सन्त-सौरभ

(एक ब्रह्मनिष्ठ सन्त के उपदेश)

मानव-सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

सन्त-सौरभ

मानव सेवा संघ के प्रवर्तक ब्रह्मलीन सन्त-प्रवर पूज्यपाद स्वामी श्रीशरणानन्द जी महाराज की अमृतवाणी

मानव सेवा संघ

वृन्दावन (मथुरा) २८११२१

प्रकाशक :
मानव सेवा संघ
वृन्दावन (मथुरा)
पिन २८११२१

प्रथम संस्करण ४००० प्रतियाँ

मूल्य : १६/– सोलह रुपये

मुद्रण–संयोजन
चित्रलेखा
श्रीहरिनाम प्रेस, बाग बुन्देला, वृन्दावन
फोन : ४४२४१५, ४४३४१५

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ!
आप अपनी
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से
दुःखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल
एवम् सुखी प्राणियों के हृदयमें
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख–दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो
आपके पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर
कृतकृत्य हो जाँय।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!! ॐ आनन्द!!!

(प्रार्थना साधक के विकास का अचूक उपाय है)

प्राक्कथन

मानव सेवा संघ के प्रवर्तक सन्त पूज्यपाद श्रीस्वामीजी महाराज से किसी ने एक बार पूछा—महाराज ! मानव सेवा संघ का अर्थ क्या है ? श्री महाराज ने कहा— जीवन के हर क्षेत्र में प्रत्येक समस्या का समाधान है—मानव सेवा संघ। मानव सेवा संघ की बहुमुखी, बहुआयामी विचार धारा पर सन्त प्रवर की वाणी में अब तक अनेक पुस्तकें प्रकाशित कर चुके हैं।

प्रस्तुत पुस्तक 'सन्त सौरभ' 'एक महात्मा का प्रसाद' का ही संशोधित रूप है। आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक से जिज्ञासु भलीभाँति परिचित ही हैं।

बहुत समय से पूज्यपाद श्री महाराजजी के प्रेमियों, श्रद्धालुओं एवं संघ के आत्मीय सदस्य महानुभावों का यह प्रेमपूर्ण आग्रह चला आ रहा था कि उक्त ग्रन्थ कुछ यथावश्यक संशोधनों सहित मानव सेवा संघ वृन्दावन द्वारा प्रकाशित होना चाहिए। उनके इस अनुरोध को दृष्टिगत रखते हुए उक्तग्रन्थ 'सन्त सौरभ' के रूप में आपके समक्ष प्रस्तुत है।

आशा है सत्संगी महानुभाव पूर्व प्रकाशनों की भाँति सन्तवाणी के इस संकलन का भी सहर्ष स्वागत करेंगे।

मानव सेवा संघ
वृन्दावन

अद्वैत चैतन्य

संत–सौरभ

(१)

निरन्तर साधन का स्वरूप

साधक के जीवन में ऐसी प्रतीति नहीं रहनी चाहिये कि अमुक समय तो साधनका है और अमुक समय साधन का नहीं है। अमुक क्रिया या प्रवृत्ति तो साधन है और अमुक नहीं। उसका तो प्रत्येक क्षण और प्रत्येक प्रवृत्ति साधनमय होनी चाहिये। जिसकी समझमें सब कुछ भगवान् का है, उसका अपना तो एक भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रहा। फिर उसकी कोई भी प्रवृत्ति भगवान् की सेवा से भिन्न हो ही कैसे सकती है? उसके जीवन का प्रत्येक क्षण भगवान् की प्रसन्नता के लिये, उन्हींकी दी हुई योग्यतासे, उन्हींकी सेवामें लगेगा। इसके सिवा दूसरा साधन हो ही क्या सकता है !

(२)

चित्त की शुद्धि

(१) बुरे और अनावश्यक संकल्पोंका त्याग ही चित्तशुद्धिका पहला उपाय है।

(क) जिस क्रियासे किसीका अहित होता हो, तद्विषयक संकल्पोंका नाम बुरे संकल्प हैं।

(ख) जिसका वर्तमान से सम्बन्ध न हो, जिस संकल्पको पूरा

करनेकी साधकमें योग्यता या शक्ति न हो, यदि शक्ति या योग्यता हो तो भी वर्तमान कालमें उसे पूरा करना आवश्यक न हो या सम्भव न हो, ऐसे संकल्पोंका नाम है--अनावश्यक संकल्प।

इनकी निवृत्ति के बाद जो साधकके मनमें आवश्यक और भले संकल्प उठते हैं, उनकी पूर्ति अपने-आप होती है, यह प्राकृतिक नियम है।

(२) आवश्यक और भले संकल्पोंकी पूर्तिमें भी, उस पूर्तिके सुखमें रस न लेना किंतु ईश्वरकी अहैतुकी कृपाका अनुभव करते हुए उनके प्रेम और विश्वासको पुष्ट करते रहना--यह चित्तशुद्धिका दूसरा उपाय है।

(क) आवश्यक संकल्प उनको कहते हैं, जिनके अनुसार साधककी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है और जिनकी पूर्तिका सम्बन्ध वर्तमानसे है, जैसे भोजनादि शरीरसम्बन्धी क्रिया-विषयक संकल्प एवं अपनी योग्यताके अनुसार अन्यान्य वर्तमान प्रवृत्तिसे या निवृत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाले संकल्प।

(ख) भले संकल्प उनको कहते हैं, जिनमें किसीका हित--प्रसन्नता निहित हो।

(३) जब कभी साधकको ऐसा प्रतीत होता हो कि मेरे आवश्यक और शुभ संकल्पोंकी भी पूर्ति नहीं हो रही है, तो उस समय मनमें किसी प्रकार की खिन्नता या निराशाको स्थान नहीं देना चाहिये; किंतु ऐसा समझना चाहिये कि 'प्रभु अब मुझे अपनानेके लिये--मुझे अपना प्रेम प्रदान करने के लिये मेरे मनकी बात पूरी न करके अपने मनकी बात पूरी कर रहे हैं।' तथा ऐसे भावसे उन प्रेमास्पदके संकल्पमें अपने संकल्पोंको मिलाकर उनकी प्रसन्नता और उनकी प्रेमप्राप्तिकी आशाभरी उमंगमें आनन्दमग्न हो जाना--यह अन्तःकरणकी परम शुद्धिका अन्तिम साधन है।

चित्त शुद्ध होने से निर्विकल्प स्थिति और संदेहरहित बोध होता है। उस समय साधकके जीवनमें सब प्रकारके दुःखोंकी निवृत्ति

तथा स्वाधीनता और सामर्थ्य का अनुभव होता है; परंतु उससे होनेवाले सुखमें भी साधकको संतुष्ट नहीं होना चाहिये और उसका उपभोग भी नहीं करना चाहिये; प्रत्युत् उदासीन भाव से उसकी उपेक्षा करके भगवान्‌के प्रेम और विश्वासको ही पुष्ट करते रहना चाहिये।

(३)

सिद्धान्त और साधन

साधकके लिये वही सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ मान्य है, जिसके समझनेमें उसे किसी प्रकारका संदेह न हो और जिसके अनुसार अपना जीवन बना लेनेमें उसे किसी प्रकारकी कठिनाईका बोध न होता हो अर्थात् वर्तमानमें प्राप्त परिस्थिति और योग्यताके सदुपयोगसे ही जिस सिद्धान्त के अनुसार जीवन बना लेना सहज हो। जिसमें निराशाके लिये कोई स्थान न हो, जो उसको सबसे अधिक प्रिय हो तथा जिसमें उसका पूर्ण विश्वास हो। जिस साधकके पास न धनका बल है, न शरीरका बल है, न बुद्धि-बल है, न इन्द्रिय-बल है, न सदाचार-बल है और न जातिका बल है--ऐसा दीन-हीन पतितसे भी पतित मनुष्य भी जिस सिद्धान्तके अनुसार सुगमतासे अपने साध्यको अनायास सहज ही प्राप्त कर सकता हो, वही सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ है। जो सिद्धान्त प्राप्त योग्यताके सदुपयोगद्वारा साधकको साध्यकी प्राप्ति करा देनेमें समर्थ हो, वही उसके लिये वास्तविक सिद्धान्त है। अपने सिद्धान्तका अनुसरण करते हुए दूसरोंके सिद्धान्तका आदर करना ही धर्म है; क्योंकि धर्म सभी सिद्धान्तोंका समर्थक है।

(४)

भाव, संकल्प और कर्मकी शुद्धि

किसी भी कर्मकी शुद्धिके लिये यह जानना परमावश्यक है कि उसका उद्गमस्थान क्या है अर्थात् कर्मकी उत्पत्ति कहाँसे होती है? विचार करनेपर मालूम होगा कि कर्ताके भाव और संकल्पसे कर्म

बनता है अर्थात् पहले कर्ता किसी भावसे भावित होकर स्वयं कुछ बनता है, तब उसके अनुसार संकल्प और कर्मकी उत्पत्ति होती है। जब मनुष्य कोई अच्छा काम करनेमें प्रवृत्त होता है, जब पहले स्वयं अच्छा बनता है। वैसे ही जब किसी बुरे काममें प्रवृत्त होता है, तब पहले स्वयं बुरा बनता है। जैसे चोर बनकर चोरी करता है, भोगी बनकर भोग करता है, सेवक बनकर सेवा करता है इत्यादि। अतः यह सिद्ध हुआ कि क्रियाकी शुद्धिके लिये साधकको पहले अपने अहंभावको शुद्ध करना परम आवश्यक है; क्योंकि कारणकी शुद्धिके बिना कार्यकी वास्तविक और स्थायी शुद्धि नहीं होती। इसलिये साधकको चाहिये कि वह अपनी मान्यताको पहले स्थिर और शुद्ध बनावे, विकल्परहित यह निश्चय करे कि मैं भगवान् का हूँ। यह भाव निश्चित होनेपर अपने-आप उन्हीं कामोंको करनेके संकल्प उठेंगे, जो भगवान्को प्रिय हैं, जो भगवान्की प्रसन्नताके लिये करने आवश्यक हैं। इस प्रकार भाव, संकल्प और कर्मकी शुद्धि सुगमतापूर्वक अपने-आप हो सकती है। साधक जिस वर्ण, आश्रम, परिस्थितिमें रहता हो, उसे तो भगवान्की नाट्यशालाका स्वाँग समझे और उस स्वाँगके अनुसार जब जो कर्म करना आवश्यक हो, उसे खूब उत्साह, सावधानी और प्रसन्नतापूर्वक करता रहे; परंतु उस अभिनयको अपना जीवन न माने अर्थात् उसमें जीवन बुद्धि, सद्भाव न रक्खे। ऐसा होनेसे अभिनयके रूपमें होनेवाली प्रवृत्तियोंका राग अंकित नहीं होगा, जिससे निर्वासना आ जायगी और प्रत्येक प्रवृत्तिके अन्तमें स्वाभाविक ही प्रेमास्पदके प्रेमकी प्रतीक्षा उदय होगी; क्योंकि अभिनयकालमें यह भावना जाग्रत् रहती है कि हमारे हिस्सेमें आया हुआ अभिनय ठीक-ठीक पूरा हो जानेपर हमारे प्रेमास्पद हमें जरूर अपनायेंगे, हमसे प्रेम करेंगे। प्रेमास्पदकी ओरसे मिले हुए अभिनयसे छिपे हुए रागकी निवृत्ति होती है। रागका अन्त होते ही अनुरागकी गंगा स्वतः लहराने लगती है--यह सभी प्रेमियोंका अनुभव है। अभिनय करते समय इस बातको कभी न भूले कि मैं उनका हूँ जो इस लीलास्थलीरूप जगत्के स्वामी हैं। अतः मैं जो कुछ कर रहा हूँ या मुझे जो कुछ करना है--वह उन्हींकी प्रसन्नताके लिये करना है और

इस अभिनयको प्रभु देख रहे हैं।

अहंभावकी शुद्धिके बिना यदि कोई मनुष्य कर्मकी शुद्धिके लिये प्रयत्न करता है तो वह कोशिश करनेपर भी कर्मको शुद्ध नहीं बना सकता; क्योंकि जहाँसे कर्मकी उत्पत्ति होती है, जो उसका कारण है, उसकी शुद्धिके बिना कर्मकी शुद्धि सम्भव नहीं है।

(५)
चित्तकी शुद्धि

साधकको चाहिये कि प्राप्त विवेकके द्वारा अपने मनकी दशाका भलीभाँति निरीक्षण करे कि उसकी आन्तरिक रुचि क्या है, उसमें कौन-कौन-सी आसक्तियाँ (राग) छिपी हैं। इस प्रकार मनके अन्तस्तलमें रूचि और रागके रूपमें छिपे हुए अपने दोषोंको देख लेनेपर वे दोष अपने-आप नष्ट हो जाते हैं और चित्त शुद्ध हो जाता है, यह प्राकृतिक नियम है। जबतक साधक गुरुजनों और शास्त्रोंद्वारा सुनकर अपने दोषोंको दोष समझता है--उनको सद्‌गुणोंकी भावनासे दबाता रहता है, तबतक वे एक बार दब तो जाते हैं; पर उनका समूल नाश नहीं होता। अतः पुनः मौका पाकर समयपर वे घोर रूपमें भड़क उठते हैं, किंतु प्रत्यक्ष रूपसे देख लेनेके बाद दोषोंका मूलसहित नाश हो जाता है। यद्यपि साधक बुद्धिजन्य विवेकद्वारा दोषोंको दोषरूपमें समझता है, उनको छोड़ना भी चाहता है। उसी प्रकार सद्‌गुणोंको भी समझता है तथा उनको धारण भी करना चाहता है; परंतु जबतक हृदय और विवेककी एकता नहीं हो जाती, मनको उन दोषोंमें रस आता रहता है और गुणोंके रसका अनुभव नहीं होता, तबतक दोषोंका त्याग और गुणोंका संग्रह नहीं होता। अतः साधकको चाहिये कि वह प्राप्त विवेकके द्वारा गहराईसे अपने दोषोंका निरीक्षण करके विवेक और हृदयकी एकता स्थापित करे अर्थात् मन और बुद्धिमें जो दूरी है, उसे मिटाकर मन को बुद्धिमें विलीन कर दे। ऐसा होनेसे दोषोंकी उत्पत्ति नहीं होगी और गुणोंका अभिमान नहीं होगा। तब बुद्धि अपने आप सम और स्थिर हो जायगी।

(६)

साधकको चाहिये कि अपने मनको पुनर्जन्म और नरकादिका या अन्य किसी प्रकारका भय दिखाकर या लालच देकर उसकी रुचिको दबावे नहीं; किंतु प्राप्त विवेकके द्वारा उसकी रुचिका निरीक्षण करता रहे। ऐसा करनेसे मनकी दशाका ज्ञान सहज में ही हो सकेगा और उस रुचिके अनुसार आचरण करनेपर भी जब मनके उद्देश्यकी पूर्ति नहीं होगी, तब वह सुगमतासे उस रुचिका परिवर्तन स्वीकार कर लेगा। ऐसा करनेसे स्वाभाविक ही मनमें यह रुचि उत्पन्न होगी कि मुझे ऐसा सुख मिले जो सदा बना रहे, जो कभी घटे नहीं और जिसमें दुःखका मिश्रण न हो। इस रूचिके अनुसार जब उसे संसारके किसी भी भोगमें--किसी भी परिस्थिति--अवस्थामें वैसा सुख नहीं मिलेगा, जब वह सब ओरसे भटककर थक जायगा, जब मनकी रुचि और बुद्धिके विवेककी एकता हो जायगी अर्थात् मनमें यह विश्वास हो जायगा कि भगवान्‌के समान किसी प्रकार भी कोई सुन्दर नहीं है--समस्त सुन्दरताके केन्द्र वे ही हैं; समस्त जगत्‌की सुन्दरता उनके सौन्दर्यके किसी एक अंशका प्रतिबिम्बमात्र है; भगवान्‌के समान प्यार करनेवाला, प्रेमके तत्त्वको जाननेवाला ही दूसरा कोई नहीं है तथा बिना ही कारण दया करनेवाले भी वे ही हैं, उनके-जैसा दूसरा कोई है ही नहीं--तब मन अपने आप उनकी ओर लगेगा।

वर्तमान कालमें साधकको जो ऐसी प्रतीति होती है कि 'क्या किया जाय, मन भगवान्‌में लगता नहीं, भगवान्‌की ओर मन खिंचता नहीं।' फिर ठीक उसका उल्टा हो जायगा। मन हटानेसे भी भगवान्‌से हटेगा नहीं। गोपियोंके चरित्रसे यह भाव ठीक समझमें आ जाता है। वे एक दूसरीसे क्या कहती हैं--यही न कि 'सखी ! क्या करूँ, जबसे इन आँखोंने उस मोहनी मूर्तिको देख लिया, तबसे मेरी आँखें, मेरा मन मेरे नहीं रहे। वे उसे छोड़कर अन्य किसी ओर लगते ही नहीं।'

इस प्रकार हृदय और विवेककी एकता हो जानेपर बुद्धि सम

और स्थिर हो जाती है। तब साधकका अहंभाव गलकर प्रेमास्पदके प्रेमकी लालसा के रूपमें बदल जाता है। उस समय अहंभाव और प्रेमकी लालसा में भेदकी उपलब्धि नहीं होती। दोनों एक हो जाते हैं एवं प्रेमास्पद और उनके प्रेमकी लालसाके सिवा कुछ भी नहीं रहता।

(७)

ध्यान रहे कि शरीरके दोषोंका दर्शन, उनका चिन्तन नहीं करना है। दोषोंका चिन्तन तो साधनमें विघ्नरूप है, आसक्तिको पुष्ट करनेवाला है। अतः साधकको चाहिये कि शरीरकी आदि, मध्य, अन्तिम अवस्थापर तात्त्विक विचार करके उसकी वास्तविकताको देखे। उसका या उसके दोषोंका चिन्तन न करे। इस प्रकार जब साधक प्राप्त विवेकके द्वारा शरीरके वास्तविक स्वरूपका दर्शन कर लेता है, तब शरीर की सत्यता और सुन्दरता मिट जाती है। उसके मिटते ही कामका अन्त हो जाता है। फिर अनन्त और नित्य सौन्दर्यके निधान परम-प्रेमास्पद प्रभुसे मिलनेकी लालसा जाग्रत हो जाती है।

शरीरकी असलियतको देखनेका प्रकार

साधक को विचार करना चाहिये कि शरीरमें सुन्दरता, नित्यता और प्रियताकी प्रतीति क्यों होती है? इसका कारण क्या है? विचार करनेपर मालूम होगा कि अविचार अर्थात् विचारकी कमी ही इसका कारण है। साधकका अपना स्वरूप नित्य चेतन और आनन्दमय है। इसलिये वह जिसके साथ अपनेको मिलाकर उसमें अहंभाव कर लेता है, उसीमें उसे नित्यता और चेतनाका भास होने लगता है और वह तबतक रहता है, जबतक साधक प्राप्त विवेकके द्वारा उसपर विचार नहीं करता। अर्थात् अपनी जानकारीका निरादर करता रहता है।

वास्तवमें जो जिसका सजातीय है, उसीसे उसकी एकता अर्थात् वास्तविक सम्बन्ध है। अपने विजातीयसे कभी भी किसीकी

एकता या सम्बन्ध नहीं होता। तथापि शरीर, जो कि अपना सजातीय नहीं है, उसे ही अज्ञानवश सजातीय मानकर मनुष्य उससे अपनी एकता और सम्बन्ध मानने लग जाता है। इसीका नाम अविचार है और यही समस्त अनर्थोंका मूल है।

यह सभी मनुष्योंकी स्वाभाविक जानकारी है कि शरीर मैं नहीं हूँ। बोलचालमें भी वह कहता है कि यह मेरा हाथ है, यह पैर है, यह आँख है, यह मन है, यह बुद्धि है इत्यादि। कोई भी ऐसा नहीं कहता कि मैं हाथ हूँ, मैं आँख हूँ, तथापि ऐसी मान्यता बन गयी है कि शरीर मैं हूँ। मैं शरीर नहीं हूँ, ऐसा अनुभव सजग नहीं रहता। यही कारण है कि वह शरीरके सुख-दुःखसे अपनेको सुखी-दुखी मानता है। अतएव यह अनित्य, क्षणभंगुर एवं गंदा शरीर नित्य एवं सुन्दर भासने लगता है। इसमें और इसके सम्बन्धियोंमें अपनत्व का सम्बन्ध हो जानेके कारण उनमें प्रियताका भास होता है। इसीको 'काम' कहते हैं। इसीका विस्तार नाना भोग-सामग्रियों को, उनके भोगनेकी शक्तिको और उसके उपयुक्त परिस्थितियोंको प्राप्त करनेकी इच्छाएँ हैं। प्रकृतिका यह नियम है कि इच्छाओंके अनुसार मनुष्यकी प्रवृत्ति तो होती है पर उस प्रवृत्तिके अन्तमें प्राप्ति कुछ भी नहीं होती। इच्छाओंको मनुष्य मिटा तो सकता है पर उनकी पूर्ति नहीं कर सकता। भोगोंके उपभोग से होता क्या है? उनके भोगनेकी शक्तिका ह्रास और भोगवासनाकी उत्तरोत्तर वृद्धि। जिसके कारण अभावका अनुभव कभी नहीं मिटता और कहीं भी सुख-शान्तिकी उपलब्धि नहीं होती।

साधक को चाहिये कि उसे जो स्वतः जानकारी प्राप्त है, उसका आदर करे, उसका सदुपयोग करे, उसके द्वारा यह निश्चय करे कि न तो यह शरीर मैं हूँ और न यह मेरा है। जब यही मेरा नहीं है, तब इससे सम्बन्ध रखनेवाले इसीके सजातीय अन्य पदार्थ तो मेरे हो ही कैसे सकते हैं? यह निश्चय होते ही सब प्रकारकी इच्छाएँ अपने-आप निवृत्त हो जाती हैं। अन्तःकरण शुद्ध, शान्त और स्थिर हो जाता है। फिर यह निश्चय करनेमें कोई कठिनाई नहीं होती कि

मेरे तो केवल भगवान् हैं, क्योंकि मैं उन्हींका हूँ। मेरी और उनकी सजातीयता है। स्वभावसे ही मैं उनका प्रिय हूँ, वे मेरे प्रेमास्पद हैं जिस समय, मैं उनके और अपने सम्बन्धको भूला हुआ हूँ--उस समय भी मेरा और उनका जो नित्य-सम्बन्ध है--वह तो है ही। उसका कभी विच्छेद नहीं होता। यह विश्वास दृढ़ हो जानेपर तत्काल साधकके हृदयमें उन परम सुहृद्, परम प्रेमास्पद अपने प्रभुसे मिलनेकी उत्कट लालसा जाग्रत हो उठती है। उसकी पूर्ति होनेपर भी वह मिटती नहीं, बल्कि नित्य नूतन बनी रहती है।

भगवत्-प्रेम किसी भी कर्मका फल या क्रिया-साध्य वस्तु नहीं है। उसके लिये कालान्तरकी प्रतीक्षा करना भूल है। भगवान्से और उनके प्रेमसे साधकका देश, काल, अवस्थाविषयक किसी प्रकारका भी व्यवधान अथवा दूरी नहीं है। उपर्युक्त प्रकारसे सब प्रकारकी इच्छाएँ मिट जानेपर योग और बोधकी प्राप्ति हो जाती है, तब भगवत्-प्रेमका प्राकट्य और भगवान्का सानिध्य स्वतः ही बिना किसी प्रयत्नके अपने-आप होता है।

जीवकी सबसे बड़ी भूल यही है कि वह अपनी स्वाभाविक जानकारीका आदर नहीं करता, उसकी अवहेलना करके उसके विरुद्ध आचरण करता है। इस भूलको साधक मिटा सके तो भगवान् और उनके प्रेमकी प्राप्तिमें विलम्ब न हो। इसका सम्बन्ध वर्तमानसे है। इसे भविष्यके लिये छोड़ना ही प्रमाद करना है।

शास्त्रोंमें जो यह कहा है कि साधन करते-करते कालान्तरमें चित्तकी शुद्धि और उसके परिणामस्वरूप योग, बोध एवं प्रभु-प्रेमकी प्राप्ति होती है, यह कहना केवल उसी अंशमें ठीक है कि साधक कहीं सफलतामें विलम्ब देखकर निराश न हो जाय। वास्तवमें विलम्बका कारण है अपनी जानकारीका अनादर करना; क्योंकि उसके बादका सारा काम तो भगवान्की अहैतुकी कृपासे अपने-आप पहलेसे ही बना रहता है। उसके लिये प्रयत्न अपेक्षित नहीं है। जानकारीके आदरका परिणाम है--पूर्ण वैराग्य। वैराग्यकी पूर्णतामें ही योग तथा बोध है। अबोध और भोगका हेतु राग ही है। बोधकी

पूर्णतामें ही प्रेम निहित है।

(८)

ध्यान रहे कि योग, बोध और प्रेम क्रियासाध्य नहीं हैं। किसी क्रियाके फलरूपमें इनकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि क्रियाका जन्म कर्त्ता-भावसे होता है। कर्त्ता-भाव शरीरमें मैं-भाव होनेपर ही होता है। एवं शरीरमें मैं-भाव अविचारके कारण होता है। जहाँ अविचार है अर्थात् विवेकका आदर नहीं है--वहाँ योग, बोध, प्रेम कैसे हो सकते हैं?

यह निश्चित नियम है कि प्राप्त विवेकका आदर करनेपर अर्थात् उसका सदुपयोग करनेपर जब इन्द्रियजनित ज्ञानपर बुद्धिकी विजय हो जाती है, तब अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाता है। उस समय शरीरमें अहंता-ममता न रहनेके कारण कर्तापन और भोक्तापन भी नहीं रहता। सब प्रकारके राग और वासनाओं का समूल नाश हो जाता है। तब वृत्तिनिरोधरूप योग अपने-आप सिद्ध हो जाता है। उसके होनेपर विकल्परहित बोध अपने-आप प्रकट होता है, यह नियम है। ऐसी परिस्थितिमें भगवत्-प्रेमकी लालसा जाग्रत् होती है और हृदयमें प्रेमकी गंगा लहराने लगती है। जिसका कभी अन्त नहीं होता है--नित्य नया प्रेम बना रहता है।

साधकका पुरुषार्थ यहींतक है कि वह अपने अन्तःकरणमें सब प्रकारकी भोगवासनाओंका अन्त करके उसे शुद्ध कर ले, उसके पश्चात् उसे कोई प्रयत्न करना नहीं पड़ता।

अपने प्रेमास्पदका स्मरण या चिन्तन कर्म नहीं है; क्योंकि वह अपने-आप होता है। उसमें कर्तापनका अस्तित्व नहीं रहता।

नाम-जप और स्मरणमें यही अन्तर है कि जप तो प्रेमकी उपलब्धिके लिये कर्ता-भावपूर्वक किया जाता है। उसमें क्रियाकी अधिकता और भावकी न्यूनता रहती है; किंतु स्मरण-चिन्तन तो प्रेमास्पदके विरहमें अपने-आप होता रहता है।

जो ध्यान या चिन्तन भगवान्‌के गुण, नाम, लीला आदिका

महत्त्व सुनकर किसी प्रकारके रूप, आकृति या भावके धारणापूर्वक कर्तापनके सहित किया जाता है, वह अन्तःकरणकी शुद्धिका हेतु और भगवान्‌में प्रेम-विश्वास उत्पन्न करनेवाला है, इसीलिये वह भक्तिका ही एक अंग है; परंतु उसके साथ जबतक कर्तापनका सम्बन्ध है, तबतक उसमें व्यवधान अनिवार्य है। वह सर्वदा निरन्तर नहीं हो सकता।

जो स्मरण-चिन्तन प्रेमास्पदके वियोगमें--उनकी विरह-व्याकुलतामें होता है--उसमें व्यवधान नहीं होता; क्योंकि उसमें कर्तापन और भोक्तापनका अस्तित्व नहीं रहता, एकमात्र प्रेम-ही-प्रेम रह जाता है। उस समय साधकका शरीरसे सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये वह क्रियासाध्य नहीं है।

जो कुछ कर्तापनके भावसे किया जाता है, उसका फल तत्काल नहीं मिलता, कालान्तरमें मिलता है। भगवत्-प्राप्ति और उनका प्रेम वर्तमानमें मिलता है। इसमें कालान्तरकी अपेक्षा नहीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि वह प्रयत्नसाध्य नहीं है।

जब साधक अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के समर्पण करके उन्हीं पर निर्भर हो जाता है, तब उसका कर्तापन सर्वथा गल जाता है। करनेकी वासनाका अन्त हो जाता है। उसकी अभिलाषा भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे अपने-आप पूर्ण होती है। हृदय प्रेम से छका रहता है। करनेके द्वारा जो कुछ मिला है, उसके रागकी निवृत्ति हो जाती है और जो वर्तमानमें सर्वदा-सर्वत्र विद्यमान है, उसपर विश्वास करनेसे चित्त शुद्ध हो जाता है।

जो सचमुच नित्य वर्तमान है, वह (परमेश्वर) अपनेको, और जो सदा-सर्वदा नहीं है--उसको भी प्रकाशित करता है। पर 'है' (परमात्मा) की प्रीति,--जो वास्तवमें नहीं है, उसकी निवृत्तिमें और जो है उस (परमात्मा) की प्राप्तिमें समर्थ है। इसलिये भगवत्-प्रीतिका महत्त्व भगवान्‌से भी अधिक है। अतएव भगवद्विश्वासी साधकोंको भगवत्प्रीति और विश्वास सर्वदा सुरक्षित रखना चाहिये।

(६)

किसी भी कर्मके फलरूपमें प्राप्त परिस्थिति और भोगसमुदायमें राग नहीं करना चाहिये; क्योंकि जिस प्राप्त पदार्थमें मनुष्यका राग होता है, उसी जातिके अप्राप्त पदार्थोंका चिन्तन होता है तथा उनके संस्कार अंकित होकर वासनाका रूप धारण कर लेते हैं। उससे अन्तःकरण मलिन होता रहता है।

राग अर्थात् आसक्ति, द्वेष अर्थात् वैर-भाव-इन दोनोंका समूल नाश करनेके लिये साधकको चाहिये कि इन्द्रिय-ज्ञानके अनुसार अनुकूल और प्रतिकूल प्रतीत होनेवाली परिस्थितियोंकी प्राप्तिमें जो सुख और दुःख होता है, उनमें किसी दूसरेको कारण न समझे। दूसरे व्यक्तियोंको, क्षुद्र जीवोंको या पदार्थोंको सुख-दुःखका कारण मान लेनेपर उनमें आसक्ति और वैर-भाव होना अनिवार्य है। जबतक मनुष्यका किसी व्यक्तिमें या पदार्थमें राग-द्वेष विद्यमान रहता है, तबतक चित्त शुद्ध नहीं होता। उसके मनमें अनावश्यक संकल्प और व्यर्थ चिन्तन होता रहता है।

वास्तवमें यदि देखा जाय तो सुख-दुःखमें दूसरे व्यक्ति, प्राणी या पदार्थ हेतु हैं भी नहीं। कोई पूछे कि कौन हेतु है, तो इस विषयकी मान्यता तीन भागोंमें बाँटी जा सकती है--

(१) यह कि पूर्वकृत अच्छे और बुरे कर्मोंके फलरूपमें ही समस्त प्राणियोंको अनुकूल और प्रतिकूल भोग प्राप्त होते हैं। दूसरा कोई कारण नहीं है। यह मान्यता तो उन मनुष्योंकी होती है, जो देहाभिमानी और कर्मासक्त हैं। अपनी इस मान्यताके अनुसार उनका बुरे कामोंको छोड़कर, अच्छे कामोंमें प्रवृत्त होनेका निश्चय दृढ़ होता है, जो उनको उन्नतिशील बनानेमें सहायक होता है। इसलिये यह मान्यता भी एक प्रकारसे अच्छी है।

(२) सुख और दुःखकी प्राप्तिका कारण एकमात्र मनुष्यका प्रमाद अर्थात् प्राप्त-विवेकका आदर न करना यानी उसका सदुपयोग न करना ही है, दूसरा कुछ नहीं; क्योंकि विचारवान् साधकको जब

किसी प्रकारकी शारीरिक या मानसिक प्रतिकूलता प्राप्त होती है, तब वह उससे दुखी नहीं होता, बल्कि यह समझकर प्रसन्न रहता है कि प्रतिकूलता ही मनुष्यके जीवनको उन्नत करनेवाली है। जिसके जीवनमें प्रतिकूलताका अनुभव नहीं होता, उसकी उन्नतिकी ओर प्रगति नहीं होती। यदि प्रतिकूल परिस्थिति पैदा न होती तो शरीर और संसार से अहंता-ममता का दूर होना प्रायः सम्भव ही नहीं था। अतः प्रतिकूल परिस्थिति तो शरीर और संसारसे अलग करनेवाली है। जब शरीरमें अहंभाव और उससे सम्बन्धित जगत्में मेरापन न रहे, तब कोई भी परिस्थिति मनुष्यको सुख या दुःख देनेवाली हो ही नहीं सकती। यह मान्यता उन विचारशील साधकोंकी होती है, जो एकमात्र प्रमादको ही अहंता-ममताका हेतु समझकर अपने प्राप्त विवेकका आदर करनेवाले हैं।

(३) तीसरी मान्यता हरएक परिस्थिति में सर्वत्र और सर्वदा भगवान्की कृपा का दर्शन करनेवाले, भगवान्पर निर्भर परम विश्वासी भक्तोंकी होती है। वे अनुकूल परिस्थितिमें तो इस भावनासे भगवान्की अहैतुकी कृपाका अनुभव करके उनके प्रेममें विभोर हो जाते हैं कि वे परम सुहृद् प्रभु मेरी हरएक आवश्यकताका कितना अधिक ध्यान रखते हैं। मुझ-जैसे अधम प्राणीपर भगवान्की कितनी दया है, जिन्होंने अपनी सेवा कराकर मुझे अपना प्रेम प्रदान करनेके लिये यह सामग्री और इनके उपयोगकी योग्यता दी है। एवं प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर वे यह सोचते हैं कि इस शरीरमें और संसारमें जो मैंने प्रमादवश सुख मान लिया था, जिसके कारण मैं अपने परम सुहृद् प्रभुसे विमुख हो रहा था, उस शरीर और संसारसे विमुख करके अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये भगवान्ने कृपापूर्वक यह परिस्थिति दी है। भगवान्की कैसी अनुपम दया है कि वे अपने दासको हर समय हरएक प्रकारसे अपना प्रेम प्रदान करनेके लिये उत्सुक रहते हैं। इस प्रकार प्रभुकी कृपाका अनुभव करता हुआ उनके प्रेममें विभोर होता रहता है।

उपर्युक्त तीनों प्रकारकी ही मान्यता अपने-अपने अधिकारके

अनुसार प्राणीको उन्नतिशील बनाती है। इसके विपरीत जो दूसरे प्राणियोंको या पदार्थोंको अपने सुख और दुःखका हेतु मानता है, उसका सब प्रकारसे पतन होता है; क्योंकि जिस प्राणी या पदार्थको मनुष्य अपने सुखमें हेतु मान लेता है, उसमें उसका राग हो जाता है और जिसको दुःखका हेतु मानता है, उससे द्वेष हो जाता है। ये राग और द्वेष मनुष्यको उन प्राणी-पदार्थोंके चिन्तनमें लगाकर मनको मलिन और विक्षिप्त कर देते हैं। अतः उसको किसी भी समय शान्ति नहीं मिलती।

जब साधकका किसी प्राणीमें वैरभाव-द्वेष नहीं रहता, तब सबमें समान भावसे प्रेम हो जाता है। आसक्ति और स्वार्थको लेकर जो प्राणियोंमें प्रियता होती है, वह प्रेम नहीं है, वह तो मोह है। अतः वह प्रियता, जिस-जिस व्यक्ति या पदार्थमें ममता होती है, वहीं होती है। विभु नहीं होती। उसमें द्वेषका अभाव नहीं होता। परंतु जो द्वेषका समूल नाश होनेपर समभावसे सबमें प्रेम होता है, वह विशुद्ध प्रेम है। उसमें किसीसे कुछ लेना नहीं रहता। अतः वह प्रेम देखनेमें प्राणियोंके साथ होनेपर भी वास्तवमें भगवान्‌में ही है।

शास्त्रोंमें जो सुख-दुःखको समान समझनेकी बात कही जाती है, उसका भी यही भाव मालूम होता है कि दोनोंका एक ही नतीजा हो। परिणाममें भेद न हो। उपर्युक्त प्रकारसे जब साधक सुख-दुःखका कारण दूसरेको न मानकर प्रारब्धको या प्रमादको अथवा भगवान्‌की अहैतुकी कृपाको मान लेता है, तब उसका दोनों प्रकारकी परिस्थितियोंमें भेदभाव नहीं रहता। उसके लिये अनुकूल परिस्थितिके समान ही प्रतिकूल परिस्थिति भी प्रसन्नता और विकासका कारण बन जाती है। साधक भोगसे योगकी ओर, मृत्युसे अमरताकी ओर तथा राग-द्वेषसे त्याग और प्रेमकी ओर आकर्षित हो जाता है।

उपर्युक्त भावनासे सुख 'उदार' बनानेमें और दुःख 'विरक्त' बनानेमें समर्थ है, जिससे प्राणीका हित ही होता है। जो प्राणी सुखको प्राप्त होकर उसके उपभोगमें लोलुप और दुःख आनेपर भयभीत हो जाता है, वह बेचारा सुख-दुःख का सदुपयोग नहीं कर

पाता, जिसका न करना वास्तवमें अवनतिका मूल है।

सुख-दुःखमें साधन-बुद्धि करके उनका उपर्युक्त प्रकारसे उपयोग करना साधकके लिये परम आवश्यक है। सुख-दुःखके उपभोगयुक्त जीवनको जीवन मान लेना भूल है। जीवन तो वास्तवमें वह है, जिसका अनुभव सुख-दुःखसे रहित होनेपर होता है।

(१०)

साधक को चाहिये कि वह पर-दोष-दर्शनको सर्वथा त्याग दे; क्योंकि दोष करनेकी अपेक्षा दोषोंका चिन्तन अधिक पतन करनेवाला है। दोषको क्रियारूपमें करनेमें तो बहुत कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, परंतु दोषोंके चिन्तनमें किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं प्रतीत होती। इस कारण उनके चिन्तनमें रस लेनेकी आदत स्वाभाविक सी हो जाती है।

इस आदतका त्याग करनेके लिये साधकको अपने दोष देखनेकी आदत डालनी चाहिये। जितनी गहराईसे वह अपने दोष देखेगा, उतना ही उसको अपने दोषोंका अधिक भास होगा। एवं जैसे-जैसे वह उन दोषोंको सचमुच दोष मानता जायगा--वे उससे दूर होते चले जायँगे। मनुष्य यह समझकर भी कि मुझमें अमुक दोष है, किसी-न-किसी अंशमें उसमें रस लेता रहता है और उसमें गुण-बुद्धि कर लेता है। यही कारण है कि अपनेमें जिस दोषको मनुष्य स्वीकार करता है, उसे भी छोड़ता नहीं। उससे चिपका रहता है। अतः साधकको चाहिये कि अपने दोषको गहराईसे देखे और विचारपूर्वक उसे छोड़नेका दृढ़ संकल्प करे। जो भूल अपनी समझमें आ जाय, उसको पुनः न दोहरावे। ऐसा करनेसे साधकका जीवन बहुत शीघ्र परिवर्तित हो सकता है। अपने दोषोंको देखकर उनका त्याग कर देना ही लाभप्रद है। उनका चिन्तन करना नहीं; क्योंकि चिन्तन करनेसे उनका राग नहीं मिटता। मनुष्यका जीवन सर्वथा दोषयुक्त नहीं होता, उसमें गुण भी रहते ही हैं; परंतु उन गुणोंमें जो अभिमान है, वह भी दोष ही है। अतः साधकको गुणोंके संगको और अभिमानको

भी त्याग देना चाहिये। दोषोंकी उत्पत्ति न हो और गुणोंका अभिमान न हो, यही वास्तविक निर्दोषता है।

(११)

प्राणीके अन्तःकरणमें जिन दोषोंके कारण अशुद्धि या मलिनता है, वे दोष कहीं बाहरसे आये हुए नहीं हैं, स्वयं उसीके बनाये हुए हैं। अतः उनको निकालकर अन्तःकरणको शुद्ध बनानेमें यह सर्वथा स्वतन्त्र है।

मनुष्य सोचता है और कहता है कि 'मेरे प्रारब्ध ही कुछ ऐसे हैं जो मुझे भगवान्‌की ओर नहीं लगने देते, मुझपर भगवान्‌की कृपा नहीं है। आजकल समय बहुत खराब है। सत्संग नहीं है। आस पास का वातावरण अच्छा नहीं है। शरीर ठीक नहीं रहता। परिवारका सहयोग नहीं है। अच्छा गुरु नहीं मिला। परिस्थिति अनुकूल नहीं है। एकान्त नहीं मिलता। समय नहीं मिलता आदि' इसी प्रकारके अनेक कारणोंको वह ढूँढ़ लेता है, जो उसे अपने आध्यात्मिक विकासमें रुकावट डालनेवाले प्रतीत होते हैं। और इस मिथ्या धारणासे या तो वह अपनी उन्नतिसे निराश हो जाता है या इस प्रकारका संतोष कर लेता है कि भगवान्‌की जैसी इच्छा, वे जब कृपा करेंगे, तभी उन्नति होगी। परंतु वह अपनी असावधानी, भूलकी ओर नहीं देखता।

साधकको सोचना चाहिये कि जिन महापुरुषोंने भगवान्‌की इच्छापर अपनेको छोड़ दिया है, उनके जीवनमें क्या कभी निरुत्साह और निराशा आती है? क्या वे किसी भी परिस्थतिमें भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति या पदार्थको अपना मानते हैं? उनके मनमें क्या किसी प्रकारकी भोग-वासना शेष रहती है? यदि नहीं, तो फिर अपने बनाये हुए दोषोंके रहते भगवान्‌की इच्छाका बहाना करके अपने मनमें झूठा संतोष मानना या आध्यात्मिक उन्नतिमें दूसरे व्यक्ति, परिस्थिति आदि को बाधक समझना अपने-आपको और दूसरों को धोखा देनेके अतिरिक्त और क्या है?

यह सोचकर साधकको यह निश्चय करना चाहिये कि भगवान्‌की प्रकृति जो कि जगत्-माता है, उसका विधान सदैव हितकर ही होता है, वह किसीके विकासमें रुकावट नहीं डालती, वरं सहायता ही करती रहती है। कोई भी व्यक्ति या समाज किसीके साधनमें बाधा नहीं डाल सकता। कोई भी परिस्थिति ऐसी नहीं है जिसका सदुपयोग करने पर साधनमें सहायक न हो। भगवान्‌की कृपाशक्ति तो सदैव सब प्राणियोंके हितमें लगी हुई है। जब कभी मनुष्य उसके सम्मुख हो जाता है, उसी समय उसका हृदय भगवान्‌की कृपासे भर जाता है।

साधक का बनाया हुआ यह महान् दोष है कि जिनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं है, जो किसी प्रकार भी अपने नहीं हो सकते, उन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके संघातरूप शरीरको और उससे सम्बन्धित पदार्थोंको अपना मान लेता है तथा जिनपर किसी प्रकार भी विश्वास नहीं करना चाहिये, उनपर विश्वास कर लेता है। एवं जिन परम सुहृद् परमेश्वरपर विश्वास करना चाहिये, जो सब प्रकारसे विश्वासके योग्य हैं और सजातीय होनेके नाते जो सचमुच सब प्रकारसे अपने हैं, उनपर न तो विश्वास करता है न उन्हें अपना मानता है और न वर्तमानमें उनकी आवश्यकताका ही अनुभव करता है। यही एक ऐसा महान् दोष है जिससे सब प्रकारके बड़े-से-बड़े दोष उत्पन्न हुए हैं और होते रहते हैं।

यह दोष मनुष्यका अपना बनाया हुआ है। इसलिये स्वयं ही इसे दूर करना पड़ेगा। अपने बनाये हुए दोषको दूर करनेमें कोई भी साधक असमर्थ नहीं हो सकता। इसपर भी यदि उसे अपनी कमजोरीका भान हो, यदि वह अपनेको सचमुच असमर्थ समझता हो तो उसे निर्बलताके दुःखसे दुखी होकर उस सर्वसमर्थ प्रभुकी शरणमें जाना चाहिये जो निर्बलोंके बल हैं, पतितोंको पवित्र बनानेवाले और दीनबन्धु हैं। निर्बलताके दुःख से दुखी साधकको उस निर्बलताका नाश होनेसे पहले चैन कैसे पड़ सकती है?

दूसरोंकी आलोचना करते समय प्राणीके मनमें ऐसे भाव उठा

करते हैं कि 'अमुक आचार्यने अमुक भूल की, जिससे उनके अनुयायियोंका विकास नहीं हुआ। अमुक नेतामें यह गलती है, अमुक समाजमें यह दोष है, अमुक साधक यह भूल करता है। अमुक समुदायके लोग इस अंशमें भूल करते हैं। हिंदुओंकी अमुक गलती है। अंग्रेजोंकी अमुक भूल है। मुसलमानोंने अमुक गलती की।' इस प्रकार वह सबके दोषोंका बड़ी चतुराईके साथ निरीक्षण करता है। उस समय सारे जगत्‌की बुद्धि एकत्र होकर उसमें आ जाती है। पर वही मनुष्य अपनी उस बुद्धिको अपने दोषोंके देखनेमें नहीं लगाता। यदि वह दूसरोंके उन दोषोंको देखना छोड़ दे, जो वास्तवमें उन लोगोंमें हैं कि नहीं, कहा नहीं जा सकता, तथा उस स्वभावको छोड़कर अपने दोषोंको देखनेमें अपनी बुद्धिका प्रयोग करे और जो दोष समझमें आ जायँ, उनको छोड़ता चला जाय तो शीघ्र ही उसका चित्त शुद्ध हो सकता है। साधकको चाहिये जो अपना नहीं है, जो विश्वास योग्य नहीं है, उसको अपना मानना, उसपर विश्वास करना छोड़ दे। जो अपनेको अनेक बार धोखा दे चुके हैं, उनका फिर कभी विश्वास न करे। कभी किसी भी परिस्थितिमें उनको अपना न समझे। एवं जो प्रभु अनादिकालसे अपने साथी हैं, जो सदा ही उसके हितमें लगे हैं, जिनके साथ साधकका नित्य सम्बन्ध है, जिन्होंने कभी किसीको धोखा नहीं दिया, वेद-शास्त्र और संतलोग तथा अपना अनुभव भी जिसका साक्षी है, उन परम सुहृद् प्रभुपर विकल्परहित विश्वास करके उनको अपना मान ले--यही साधकका परम पुरुषार्थ है।

जो दोष अपने बनाये हुए हैं, उनको कोई दूसरा मिटा देगा, ऐसी आशा करना तथा उनको मिटानेसे निराश होना--ये दोनों ही बातें उचित नहीं हैं; क्योंकि ये स्वाभाविक नियमके विरुद्ध हैं। लोग कहते हैं कि 'भगवान् न्यायकारी हैं' परंतु साधकको तो यही समझना चाहिये कि 'वे तो सदैव दया करनेवाले हैं।' यही कारण है कि वे अपनी दी हुई शक्तियोंका दुरुपयोग करनेवालोंको दण्ड नहीं देते। यदि न्याय करते तो झूठ बोलनेवालोंकी जीभ उसी समय काट

डालते। चोरी करनेवालोंके हाथ काट डालते; परंतु ऐसा नहीं करते। वे तो सदा प्राणीपर कृपा करते हैं और इस बातके लिये उत्सुक रहते हैं कि यह किसी प्रकार मुझपर विश्वास करके एक बार ऐसा मान ले कि 'मैं तेरा हूँ।'

जिनका चरित्र सुननेमात्रसे कामका सर्वथा नाश हो जाता है, जिनके कृपा-कटाक्षसे प्रेम प्राप्त होता है, जिनकी चरण-रजके लिये उद्धव सरीखे तत्त्ववेत्ता भी चाह करते हैं--उन गोपीजनोंके चरित्रसे भी साधकको यही शिक्षा मिलती है कि एकमात्र प्रभु को ही अपना मानना चाहिए, क्योंकि वे एक मात्र श्यामसुन्दरको ही अपना मानती थीं। उन्होंने अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर दिया था। उनका मन भगवान्‌का मन हो गया था। उनकी आँखें भगवान्‌की हो गयी थीं। उनकी वाणी, प्राण और शरीर सब भगवान्‌के थे। वे अपने सम्बन्धियों और गायोंको तथा समस्त पदार्थोंको भगवान्‌का ही समझती थीं। वे जो कुछ भी करती थीं, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌को सुख पहुँचानेके लिये ही करती थीं। उनकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें भगवान्‌की प्रसन्नताका उद्देश्य रहता था।

अतएव साधकको चाहिये कि वह जो कुछ करे, अपने प्रेमास्पदकी प्रसन्नताके लिये ही करे। और तो क्या, भोजन करे तो इसीलिये कि मेरे न खानेसे मेरे प्रेमास्पदको कष्ट न हो जाय। भूखा रहे तो इसीलिये कि आज मेरे प्रेमास्पद इसीमें प्रसन्न हैं, इसलिये उन्होंने मुझे भोजन करनेका मौका नहीं दिया। इसी प्रकार हर एक प्रवृत्तिमें भगवान्‌की प्रसन्नताका अनुभव करता हुआ सदा उनसे प्रेम बढ़ाता रहे या उनकी प्रेमप्राप्ति की बाट जोहता रहे।

साधकको अपना जीवन सर्वथा भगवान्‌के समर्पण कर देना चाहिये। उसकी ऐसी सद्‌भावना होनी चाहिये कि 'मेरा जीवन भगवान्‌के लिये है। मुझे उनका न होकर एक क्षण भी नहीं जीना है। भगवान् मुझे अपना मानें चाहे न मानें, पर मैं कभी किसी दूसरेका होकर नहीं रहूँगा।'

यदि साधकके मनमें यह भाव आये कि भगवान्‌को मैं जानता

नहीं, मैंने उनको कभी देखा नहीं तो बिना देखे और बिना जानकारीके उनपर कैसे विश्वास किया जाय और उनको कैसे अपना माना जाय तो अपने मनको समझाना चाहिये कि तू जिनजिनपर विश्वास करता है और जिनको अपना मानता है क्या उन सबको जानता है? विचार करनेपर मालूम होगा कि नहीं जानता-तो भी विश्वास करता है और उनको अपना मानता है। जिनको भलीभाँति जान लेनेके बाद, न तो वे विश्वास करनेयोग्य हैं और न वे किसी प्रकार भी अपने हैं, उनमें जो विश्वास तथा अपनापन है, वह तभीतक है जबतक उनकी वास्तविकताका ज्ञान नहीं है; परंतु भगवान् ऐसे नहीं हैं। उनको अपना माननेवाला और उनपर विश्वास करनेवाला मनुष्य जैसे-जैसे उनकी महिमाको जानता है, वैसे-ही-वैसे उसका विश्वास और प्रेम नित्य नया बढ़ता जाता है; क्योंकि वे विश्वास करने योग्य हैं और सचमुच अपने हैं।

जिस साधकका ऐसा निश्चय हो कि 'मैं तो पहले जानकर ही मानूँगा, बिना जाने नहीं मानूँगा' तो उसे चाहिये कि जिनजिनपर उसने बिना जाने विश्वास कर लिया है और उन्हें अपना मान रक्खा है, उन सबकी मान्यताको सर्वथा निकाल दे। किसीको भी बिना जाने न माने। ऐसा करनेसे भी उसका अपना बनाया हुआ दोष नाश होकर चित्त शुद्ध हो जायगा। तब उस प्राप्त करने योग्य तत्त्वको जाननेकी सामर्थ्य उसमें आ जायगी और वह उसे पहले जानकर पीछे मान लेगा। इसमें भी कोई आपत्ति नहीं है। यह भी उनको पानेका एक उपाय है।

जिन्हें मनुष्य अपना मान लेता है और जिनपर विश्वास करता है, क्या उनमें स्वाभाविक प्रेम नहीं होता? क्या उनमें प्रेम करनेके लिये मनुष्यको पाठ पढ़ना पड़ता है? क्या किसी प्रकारका कोई अनुष्ठान करना पड़ता है या कहीं एकान्तमें आसन लगाकर चिन्तन करना पड़ता है? क्या यह सबका अनुभव नहीं है कि ऐसा कुछ नहीं करना पड़ता, बल्कि अपने-आप अनायास ही प्रत्येक अवस्थामें स्वतः प्रेम हो जाता है।

साधकको चाहिये कि प्रतिदिन शयनके पूर्व भलीभाँति अपने सारे दिनके जीवनका प्राप्त विवेकके द्वारा निरीक्षण करे अर्थात् किनकिन दोषोंका किन-किन कारणोंसे कितनी बार दिनभरमें मुझपर आक्रमण हुआ। उस निरीक्षणसे जो असावधानी समझमें आये, उसे त्यागनेका दृढ़ संकल्प करे और उस दोषके विपरीत भावकी अपनेमें स्थापना करे। यदि मिथ्या बोल दिया हो तो जिस प्रलोभनसे वह दोष हुआ है उसकी तुलना सत्यभाषणकी महिमाके साथ करके अपने मनको समझाये ताकि पुनः वह किसी प्रकारके प्रलोभनसे आकर्षित न हो तथा यह संकल्प करे कि 'मैं मिथ्यावादी नहीं हूँ। अब कभी मैं भी झूठ नहीं बोलूँगा।' इसी प्रकार काम, क्रोध आदि हर एक दोषके विषयमें समझना चाहिये।

प्रातः उठनेके पश्चात् जिस-जिस कार्यमें प्रवृत्त हो, उससे पूर्व विवेकपूर्वक भलीभाँति निर्णय कर ले कि मेरेद्वारा जो कार्य होने जा रहा है, उससे किसीका अहित या किसीके अधिकारका अपहरण तो नहीं हो रहा है। जिन कार्योंमें दूसरोंका हित, उनके अधिकारकी रक्षा निहित हो, उन कार्योंसे कर्त्तामें शुद्धि आती है और परस्परमें स्नेहकी एकता सुदृढ़ होती जाती है। हृदय प्रीतिसे भर जाता है। साधक किसीका ऋणी नहीं रहता। ऐसा होनेपर साधकके जीवनमें स्वाधीनता आ जाती है। उसे प्रेम, विवेक और योगकी प्राप्ति होती है, जो मानव-जीवनका लक्ष्य है; क्योंकि प्रेमसे भक्ति, विवेकसे मुक्ति, योगसे शक्ति स्वतः प्राप्त होती है।

यदि सम्भव हो तो सात दिनमें एक बार, जिनसे स्वभाव मिलता हो-ऐसे सत्संगी भाइयोंके साथ बैठकर आपसमें विचारविनिमय करे और उनके सामने अपने दोषोंको बिना किसी संकोच तथा छिपावके स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट कर दे तथा उनको हटानेके लिये उनसे परामर्श ले। ऐसा करनेसे साधकके दोष शीघ्र ही मिट सकते हैं।

(१२)

जबतक मनुष्यका चित्त शुद्ध नहीं होता, तबतक वह जिसका चिन्तन करना चाहता है, उसका नहीं कर पाता और जिसका नहीं करना चाहता, उसका चिन्तन होता रहता है। जो काम उसे करना चाहिये, उसे नहीं करता और जो नहीं करना चाहिये, उसे करता रहता है।

इसलिए साधकको चाहिये कि जिस समय जो काम उसे कर्त्तव्यरूपमें प्राप्त हो, उसके करनेमें अपनी विवेकशक्ति और क्रियाशक्तिको पूर्णरूपसे लगाकर पूर्ण धैर्य, उत्साह और सावधानीके साथ जिस ढंगसे उसे करना चाहिये, वैसे ही करे। उसके करनेमें न तो आलस्य करे और न जल्दबाजी करे। हर एक प्रवृत्तिके आरम्भमें यह विचार कर ले कि जो काम मैं करना चाहता हूँ, उससे किसीके अधिकारका अपहरण तो नहीं होता है? वह किसीके अहितका कारण तो नहीं है? यह सोचकर अपने प्रभुकी सेवाके नाते उस कामको कुशलतापूर्वक पूरा करे। ऐसा कोई काम न करे जिससे भगवान्का सम्बन्ध न हो, जो भगवान्की आज्ञा और प्रेरणाके विरुद्ध हो।

प्रवृत्तिके बाद निवृत्तिका आना अनिवार्य है। अतः जो काम कर्त्तव्यरूपसे प्राप्त हो, उसे उपर्युक्त प्रकारसे पूरा कर देनेपर निवृत्तिकालमें साधकके चित्तकी स्थिरता और अपने प्रेमास्पदके प्रेमकी लालसाकी जागृति अवश्य होती है। अनावश्यक संकल्प और व्यर्थ चिन्तन अपने आप शान्त हो जाते हैं।

कोई भी काम छोटा-बड़ा नहीं है। जिस कामको लोग साधारण और छोटा कहते हैं, वह कुशलतापूर्वक ठीक करे--उसे, जिस भावसे करना चाहिये, वैसे किया जानेपर वह साधकके लिये किसी भी उत्तम-से-उत्तम माने जानेवाले कामसे कम नहीं रहता; क्योंकि कर्म करनेकी आवश्यकता किसी प्रकारके फलकी कामनाके लिये नहीं, किंतु कर्तामें जो क्रियाशक्तिका वेग है, उसे पूरा करनेके लिये है।

उक्त भावसे कर्म करनेपर कर्तापन और भोक्तापन अपने-आप

विलीन हो जाते हैं। जो उद्देश्य बड़े-बड़े साधनोंसे कठिनाईके साथ बहुत कालमें पूरा नहीं होता, उसकी सिद्धि अनायास थोड़े ही समयमें अपने-आप हो जाती है।

कर्मके रहस्यको न जाननेके कारण साधारण मनुष्य, जो काम जिस समय करना चाहिये, उसे उस समय नहीं करते एवं जब करते हैं, तब उसे भाररूप समझकर, जैसे-तैसे पूरा कर देनेके भावसे करते हैं। पूरी शक्ति लगाकर नहीं करते। अतः उनका राग नष्ट नहीं होता। इससे जिस कालमें वे कर्मसे निवृत्त होते हैं, उस कालमें भी उनके अन्तःकरणमें नाना प्रकारके व्यर्थ संकल्पोंकी स्फुरणा होती रहती है; क्योंकि उनमें क्रियाशक्तिका वेग बना रहता है अथवा वह काल आलस्य या निद्रामें चला जाता है।

मनुष्य-जीवनका समय सब-का-सब अमूल्य है, अतः उसका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाना चाहिये। उसमें भी जो निवृत्तिकाल है, जिस समय मनुष्यके सामने कोई करने योग्य कर्म नहीं रहता, वह समय तो खास तौरपर अपने परम प्रेमास्पद प्रभुका स्मरणचिन्तन करते हुए उनके प्रेममें डूबे रहनेका ही है। ऐसे मौकेमें यदि साधकके चित्तमें अनावश्यक संकल्प और व्यर्थ चिन्तन होता रहे या तमोगुणकी वृद्धि होकर वह समय जड़तामें व्यतीत हो जाय तो इससे बढ़कर दुःख देनेवाली भूल क्या हो सकती है? इसलिए साधकको चाहिये कि उसे जो कर्म कर्तव्यरूपसे प्राप्त हो, उसको पहले बताये हुए प्रकारसे भगवान्‌के नाते, उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार उनकी दी हुई शक्तिका कुशलतापूर्वक प्रयोग करके पूरा करता जाय। जैसे-जैसे साधक प्राप्त-कर्त्तव्यको ठीक-ठीक पूरा करता जाता है, वैसे-ही-वैसे उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ निवृत्तिमें बदल जाती हैं।

जो काम जिस प्रकार करना चाहिये, उस प्रकार धैर्य और उत्साहपूर्वक, सावधानीसे न किया जानेपर, उसका परिणाम स्वास्थ्यके लिये तथा समाज और देशके लिये भी हितकर नहीं होता। इस दृष्टिसे भी साधकको हर एक काम, चाहे वह खान-पान-सम्बन्धी साधारण हो, चाहे परिवार, समाज, देशसे सम्बन्ध रखनेवाला हो--

ठीक-ठीक करना चाहिये।

जिस समय साधक बिना कर्म किये रह सके। अर्थात् उसे न तो कोई काम कर्त्तव्यरूपसे प्राप्त हो और न किसी कामको करनेके लिए किसी प्रकारकी क्रियाशक्तिका वेग हो, उस समय कर्मका करना आवश्यक नहीं है। कर्म करनेकी बात तो उसी समयके लिये कही जाती है, जब साधकको कर्म करना आवश्यक हो जाय।

सही प्रवृत्ति होनेपर सहज निवृत्ति स्वतः प्राप्त होती है। सहज निवृत्ति ज्यों-ज्यों स्थायी और स्थिर होती जाती है, त्यों-त्यों मनमें स्थिरता, हृदयमें प्रीति और विचारका उदय अपने-आप होता जाता है, जो कि मानवकी माँग है।

(१३)

पहले यह बात कही गयी थी कि कर्त्तव्यरूपसे प्राप्त कार्यको धैर्य और उत्साहपूर्वक पूरा कर देनेसे करनेकी वासना मिटकर स्वतः ही सहज निवृत्ति प्राप्त होती है और साधकका चित्त शुद्ध होता चला जाता है।

अब यह विचार करना चाहिये कि मनुष्यका हरेक कार्य, उसकी हरेक प्रवृत्ति, शुद्ध और सही अर्थात् जैसी होनी चाहिये, ठीक वैसी कैसे हो? विचार करनेपर मालूम होगा, हरेक प्रवृत्तिके पहले कर्त्ताके मनमें उसमें प्रवृत्त होनेका संकल्प उत्पन्न होता है। अतः प्रवृत्तिकी शुद्धिके लिये संकल्पकी शुद्धि अनिवार्य है।

बुरे संकल्प और भावनाका त्याग करके, अच्छे संकल्प और अच्छी भावनाको स्वीकार करनेसे संकल्पकी शुद्धि होती है। बुरे संकल्प और बुरी भावना उसको कहते हैं, जिसमें किसीका अहित निहित हो तथा अच्छे संकल्प और अच्छी भावना वे हैं, जिनमें हित भरा हो। जिसमें दूसरोंका हित होता है, उसीमें साधकका भी हित होता है और जिसमें दूसरेका अहित होता है, उसमें अपना भी अहित ही होता है। दूसरेके साथ की हुई भलाई ही अपने प्रति भलाई होती है। दूसरेके साथ की हुई बुराई ही अपने प्रति बुराई होती है। इसमें

कुछ भी संदेह नहीं है, तथापि मनुष्य दूसरेका अहित करके अपना हित चाहता है, यह बड़ी भारी भूल है।

संकल्पकी शुद्धिके लिये वेदोंमें ईश्वरसे प्रार्थना करनेका प्रकार बताया गया है। इसके लिये 'शिवसंकल्प' नामका एक प्रकरण शुक्ल यजुर्वेदमें आता है--ऐसा सुना है।

शुभ संकल्पोंका चित्तपर बहुत प्रभाव पड़ता है। इससे चित्तकी शुद्धि सुगमतासे हो जाती है। इसलिये साधकको चाहिये कि यदि संकल्प करना ही हो, संकल्प किये बिना मन न माने तो शुभ संकल्प ही करना चाहिये। अशुभ संकल्प कभी नहीं करना चाहिये।

यदि मनमें ऐसी शंका उठे कि क्या चित्त शुद्ध होनेके पहले शुभ संकल्पोंका करना साधकके वशकी बात है? क्या वह इसमें स्वाधीन है? तो यों समझना चाहिये कि किसीका भी चित्त पूर्णरूप से अशुद्ध नहीं होता। उसमें अशुद्धिके साथ-साथ शुद्धिका अंश भी अवश्य रहता है। उसीके प्रभावसे मनुष्यके मनमें अपना सुधार करनेकी इच्छा होती है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि मनुष्य बुरे संकल्पोंका त्याग करके अच्छे संकल्पोंको ग्रहण करनेमें स्वाधीन है। भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे वह इस कार्यमें सफल हो सकता है।

संकल्पके अनुसार ही मनुष्यकी प्रवृत्ति हुआ करती है। अतः शुभ संकल्पोंसे मनुष्यकी शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति होती है और उन कामोंको भगवान्‌के नाते धैर्य और कुशलतापूर्वक पूरा करनेसे कर्ताका भगवान्‌से सम्बन्ध हो जाता है।

यह नियम है कि जिसपर मनुष्यका विश्वास होता है उसीसे सम्बन्ध होता है, जिससे सम्बन्ध होता है वही प्रिय होता है, प्रियका ही स्मरण होता है। जिसका स्मरण होता है, उसीका चिन्तन होता है और यह चिन्तन ही आगे जाकर ध्यान, समाधि बन जाता है। जब साधक समाधिके रससे भी उपरत हो जाता है, उसे भी नहीं चाहता, तब उसे विशुद्ध प्रेमकी प्राप्ति होती है।

यह बात पहले कही गयी थी कि चिन्तन करने योग्य एकमात्र

प्रभु हैं; क्योंकि जो सदा हैं, सब जगह हैं और स्वयंप्रकाश हैं, वे ही चिन्तनद्वारा प्राप्त हो सकते हैं। शरीर या भोग्यपदार्थ एवं संसार चिन्तन करने योग्य नहीं है; क्योंकि जो सदा सब जगह नहीं हैं, जो अनित्य और जड़ हैं, उनकी प्राप्ति चिन्तनसे नहीं होती। अतः उनका चिन्तन करना व्यर्थ है। भगवान्‌का चिन्तन ही सार्थक चिन्तन है। अतएव साधकको निरन्तर प्रभुका ही चिन्तन करना चाहिये। प्रभुका चिन्तन करनेके लिये उनपर विश्वास करना और उनको अपना मानना आवश्यक है।

जो वास्तवमें अपने नहीं हैं उनको मनुष्य भूलसे अपना मान लेता है; माने हुए सम्बन्धका विच्छेद अवश्य होनेवाला है। अनित्य क्षणभंगुर पदार्थोंको जब तक साधक भूल से नित्य और अपना मानता रहता है, तबतक वह अपने सच्चे नित्य सम्बन्धी परम प्रेमास्पद प्रभुको पूर्णरूपसे अपना नहीं मान पाता। इसलिये साधकको चाहिये कि उसका जो शरीर और संसारमें 'मैं' पन और अपनापन भूलसे माना हुआ है, उसका सर्वतोभावसे परित्याग कर दे। ऐसा करनेसे उसका अपने नित्य सखा--स्वभावसे ही सुहृद् प्रभुमें अपनापन स्वतः हो जायगा। जो भाव त्यागसे प्राप्त होता है, उसे प्राप्त करनेमें मनुष्य सदैव स्वतन्त्र है; क्योंकि त्याग करनेमें किसीको कोई पराधीनता नहीं है।

योग, बोध और प्रेम किसी क्रियाका फल नहीं है। इनका सम्बन्ध साधककी चित्त-शुद्धिसे है। चित्त शुद्ध होनेपर योगीको योग, विचारशीलको बोध और प्रेमीको प्रेम स्वतः प्राप्त होता है। चित्तकी शुद्धि उन महापुरुषोंके सत्संगसे होती है, जिनका भाव शुद्ध हो गया है, अतः साधकको चाहिये कि सत्पुरुषोंका संग प्राप्त करके अपने साधनका निर्माण करे और उनके आज्ञानुसार तत्परतासे साधनमें लग जाय। अपने प्राणोंसे भी साधनका महत्त्व अधिक समझे।

सत्पुरुषोंका संग मिलनेमें प्रारब्धको हेतु नहीं मानना चाहिये। सत्पुरुषोंका संग भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे मिलता है एवं हरेक परिस्थितिमें प्रभुकी कृपाका दर्शन करनेसे और उसका आदर करनेसे

भगवान्की कृपा फलीभूत होती है। अतएव साधक को भगवान्की कृपापर विश्वास करके प्राप्त शक्ति और परिस्थितिके अनुसार सत्पुरुषोंके संगकी प्राप्तिके लिये सच्ची अभिलाषाके साथ चेष्टा करते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे उसे सत्संगकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

अशुभ संकल्पोंके त्यागसे शुभ संकल्पोंकी पूर्ति स्वतः होने लगती है। उससे उत्कृष्ट भोगोंकी प्राप्ति हो जाती है। पर जो साधक अपनेको शुभ संकल्पोंकी पूर्तिके सुखमें आबद्ध नहीं करते, उन्हें सब संकल्पोंकी निवृत्तिद्वारा योगके रसकी प्राप्ति होती है। जो साधक योगके रसमें भी आबद्ध नहीं होते, उन्हें विवेकपूर्वक सद्गति अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है। पर जो साधक मोक्षकी भी उपेक्षा कर देता है, उसे परम प्रेमकी प्राप्ति होती है, जो वास्तवमें पाँचवाँ पुरुषार्थ है, जिसके प्रभावसे पूर्णब्रह्म, सच्चिदानन्दघन अपनी महिमामें नित्य ज्यों-का त्यों स्थित रहता हुआ ही जीव-भावको स्वीकार करता है। सम्पूर्ण संसार जिसके एक अंशमें है, वह अनन्त ब्रह्म प्रेमियोंकी गोदमें खेलता है।

भगवान्में जिस प्रकार ऐश्वर्यकी पराकाष्ठा है, उसी प्रकार उनका माधुर्य भी अनन्त है। वे छः दिनकी अवस्थामें पूतनाके प्राण चूसकर ऐश्वर्यकी लीला करते हुए ही, अपनी अहैतुकी कृपासे उसे वह गति भी प्रदान कर देते हैं जो कि बड़े-बड़े तपस्वी, योगियोंको भी बड़ी कठिनाईसे मिलती है। उन्होंने ब्रह्माके अभिमानका नाश करनेके लिये और गौओं तथा गोप-गोपियोंके वात्सल्य-प्रेमकी लालसाको पूर्ण करनेके लिये स्वयं वत्स और वत्सपाल बनकर अपने ऐश्वर्य और माधुर्यको प्रकट करनेवाली कैसी अद्भुत लीला की !

जो प्रभु अपने प्रेमीके लिये अपनी ऐश्वर्य-शक्तिको भूलकर प्रेमीके वशमें हो जाते हैं; अपने प्रेमीको प्रेमास्पद बनाकर स्वयं उसके प्रेमी बन जाते हैं; उस प्रेमी के द्वारा प्रेमपूर्वक दिये हुए पत्र-पुष्प, फल-जल आदि साधारण-से-साधारण पदार्थोंके लिये लालायित रहते हैं। उन प्रभुके साथ प्रेम न करके, यह मनुष्य उनसे प्रेम करता है,

जो इससे प्रेम करना नहीं चाहते। यह उनको चाहता है, जो इसे नहीं चाहते। उनको अपना मानता है, जो कभी इसके नहीं हुए। इससे बड़ा प्रमाद और क्या होगा?

(१४)

पहले चित्त-शुद्धिके लिये सुख-भोगकी इच्छाओंके त्यागकी बात कही गयी थी। अब विचार यह करना है कि सुख-भोगकी इच्छा उत्पन्न कैसे होती है और इसका त्याग कैसे हो सकता है? विचार करने पर पता लगता है कि इसके त्यागके दो उपाय हैं-एक विचार, दूसरा प्रेम; क्योंकि अविचारके कारण शरीरमें अहंभाव हो जानेसे और उससे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंमें मेरापन हो जानेके कारण ही भोगेच्छाओंकी उत्पत्ति होती है।

यह हरेक मनुष्यके अनुभवकी बात है कि जब उसका किसीके प्रति क्षणिक प्रेम भी होता है, तब उस समय वह अनायास प्रसन्नतापूर्वक अपने प्रेमास्पदको सुख देनेकी भावनासे अपने सुखका त्याग कर देता है। उस समय भोगकी स्मृति लुप्त हो जाती है और उसे अपने प्रेमास्पदको सुख देनेमें ही रस मिलता है। उस रसके सामने भोगका रस फीका पड़ जाता है। जब साधारण प्रेमकी यह बात है, तब जो प्रेमके तत्त्वको जाननेवाले हैं; हरेक प्राणीके साथ सदा ही प्रेम करते हैं; प्रेम ही जिनका स्वभाव है; ऐसे परम प्रेमास्पद प्रभुके प्रेमकी जिसको लालसा है, उन प्रेमीकी सब प्रकारके सुखभोग-सम्बन्धी इच्छाओंका त्याग अपने-आप बिना प्रयत्नके हो जाय, इससे आश्चर्य ही क्या है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रेमसे भी इच्छाओंका त्याग अनायास ही हो सकता है।

जितनी भी भोगकी इच्छाएँ हैं, वे सब शरीरमें अहंभाव हो जानेके कारण उत्पन्न होती हैं। शरीरके साथ एकता न होनेपर किसीके मनमें भोगकी इच्छा नहीं होती। अतः विचारके द्वारा जब मनुष्य यह समझ लेता है कि 'शरीर मैं नहीं हूँ' तब भोगेच्छाओंका त्याग अपने आप हो जाता है और इच्छाओंका सर्वथा अभाव हो

जाना ही अन्तःकरणकी शुद्धि है। त्याग और प्रेमका घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रेमसे त्याग होता है और त्यागसे प्रेम पुष्ट होता है। अतः साधकको चाहिये कि अपने प्रेमास्पद प्रभुके नाते हरेक प्राणीको सुख पहुँचानेकी भावनासे अपने सुख-भोगकी सामग्रीको उनकी सेवामें लगा दे। सेवाभावसे मनुष्यका अन्तःकरण बहुत ही शीघ्र शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरणमें प्रेमास्पद प्रभुके प्रेमकी लालसा अपने आप प्रकट हो जाती है।

साधकको चाहिये कि प्राप्त शक्तिके द्वारा प्रभुके नाते दूसरोंके अधिकारकी पूर्ति करता रहे और किसीपर अपना कोई अधिकार न समझे। शरीरनिर्वाहके लिये आवश्यक पदार्थोंको भी दूसरोंकी प्रसन्नताके लिये, उनके अधिकारको सुरक्षित रखनेके लिये ही स्वीकार करे जो कि लेनेके रूपमें भी देना ही है; क्योंकि इस शरीरसे जिनके अधिकारकी पूर्ति होती है, उनका ही तो इसपर अधिकार है। जब साधक शरीर और प्राप्त वस्तु तथा सब प्रकारकी शक्तियोंको अपने प्रभुकी मानता है, उनपर अपना कोई अधिकार नहीं मानता, उनसे किसी प्रकारके भोगकी आशा भी नहीं करता, तब उसके द्वारा जो कुछ होता है, वह त्याग और प्रेम ही है, जो अन्तःकरणकी शुद्धिका मुख्य साधन है।

प्रेमका अधिकारी प्रेमी ही होता है, भोगी नहीं; क्योंकि भोगसे प्रेममें शिथिलता आ जाती है। यदि गम्भीरतासे विचार किया जाय तो यह समझमें आ जाता है कि जीव और ईश्वर दोनों ही प्रेमी हैं। इनमें से कोई भी भोगी नहीं है। जीवमें जो भोगबुद्धि जाग्रत् होती है, वह केवल देहके सम्बन्धसे होती है, स्वाभाविक नहीं है और देह का सम्बन्ध अविचारसिद्ध है, यह सभी दर्शनकार मानते हैं। अतः प्रेमके लिये विवेकपूर्वक देहसे असंग होकर चाहरहित होना परम आवश्यक है।

ईश्वर और जीव दोनों प्रेमी होते हुए भी दोनोंके प्रेममें बड़ा अन्तर होता है; क्योंकि ईश्वर चाहसे रहित और सर्व समर्थ भी है। जीव चाहसे रहित तो है, परंतु समर्थ नहीं है। जीवमें प्रेमकी भूख है।

इसलिये वह प्रेम करता है और ईश्वर माधुर्यभावसे प्रेरित होकर जीवको प्रेम प्रदान करनेके लिये उससे प्रेम करता है। ईश्वर सब प्रकारसे पूर्ण और सर्वथा असंग है, अतः उसमें किसी प्रकारकी चाह नहीं होती।

जीव जो भोगोंका और उनकी चाहका त्याग करता है, उसमें कोई महत्त्वकी बात नहीं है; क्योंकि भोगोंको भोगनेका परिणाम तो रोग है। उससे बचनेके लिये उनका त्याग अनिवार्य है। इसके सिवा जीवको जो कुछ वस्तु और कर्मशक्ति प्राप्त है, वह भी ईश्वरकी ही दी हुई है। अतः उनका त्याग देना भी कोई बड़ी भारी उदारता नहीं है। इसी प्रकार सद्गतिके लालचका त्याग कर देना भी कोई महत्त्वकी बात नहीं है; क्योंकि सब प्रकारके भोगोंकी चाहसे रहित होनेपर दुर्गति तो होती ही नहीं इतनेपर भी जीवकी इस ईमानदारीको अर्थात् उसके नाममात्रके त्यागको भी ईश्वर अपने सहज कृपालु स्वभावसे जीवकी बड़ी भारी उदारता मानते हैं और जीव से ऐसा प्रेम करते हैं कि स्वयं पूर्णकाम होनेपर भी जीवसे प्रेम करनेकी कामनाका अपनेमें आरोप कर लेते हैं; क्योंकि प्रेम ईश्वरका स्वभाव है और जीवकी माँग है। अतः जो उनसे प्रेम करता है, ईश्वर उसका अपनेको ऋणी मानते हैं। सचमुच एकमात्र ईश्वर ही प्रेमी हैं; क्योंकि प्रेम प्रदान करनेकी सामर्थ्य अन्य किसीमें नहीं है।

भोगी मनुष्य प्रेमका अधिकारी नहीं होता। वह तो सेवाका अधिकारी है। प्रेमका अधिकारी तो चाहसे रहित ही होता है; क्योंकि चाहयुक्त व्यक्तिके साथ किया हुआ प्रेम स्थायी नहीं होता। वह उस प्रेमको भी अपनी चाह-पूर्तिका साधन मान लेता है। अतः प्रेमका आदर नहीं कर पाता।

(१५)

पहले प्रेम और विचारको अन्तःकरणकी शुद्धिका हेतु बताया गया था; क्योंकि विचारसे देहाभिमानका त्याग और प्रेमसे अपने आपका समर्पण होनेसे अपने-आप निर्वासना आ जाती है। सब

प्रकारकी चाहका अभाव हो जाना ही अन्तःकरणकी परम शुद्धि है।

जबतक मनुष्यके राग-द्वेष समूल नष्ट नहीं हो जाते, तबतक वह चाहसे रहित नहीं हो पाता और जबतक वह अपनी प्रसन्नताका कारण अपनेसे भिन्न किसी व्यक्ति, वस्तु, अवस्था या परिस्थितिको मानता है, तबतक राग-द्वेषका अन्त नहीं होता। इसलिए साधकको चाहिये कि वह अपने विकासका अर्थात् उन्नति या प्रसन्नताका हेतु किसी दूसरे को न माने।

विचार करनेपर मालूम होता है कि किसी व्यक्ति, सम्पत्ति या परिस्थितिपर मनुष्यकी उन्नति या प्रसन्नता निर्भर नहीं है; क्योंकि अज्ञानवश अपनी प्रसन्नताका हेतु समझकर वह जिसका जितना संग्रह करता है, उतना ही पराधीनताके जालमें फँस जाता है। पराधीनता किसीकी प्रसन्नतामें हेतु नहीं है, यह प्राणिमात्रका अनुभव है। स्वाधीनता, सामर्थ्य और प्रेम--यह मनुष्यकी स्वाभाविक माँग है, जो किसी प्रकारके संगठनसे या संग्रहसे पूरी नहीं हो सकती और स्वाभाविक माँगकी पूर्तिके बिना किसीको वास्तविक प्रसन्नता नहीं मिलती।

प्रत्यक्ष देखा जाता है कि स्वावलम्बी मनुष्य जितना सुखी और प्रसन्न रहता है, पराधीन व्यक्ति कभी वैसा प्रसन्न नहीं रह सकता। मनुष्य अज्ञानसे ऐसा मान लेता है कि मुझे बड़ा भारी अधिकार मिलनेसे या बहुत-सी सम्पत्ति मिलनेसे मैं सुखी हो जाऊँगा, परंतु जैसे-जैसे वैभव बढ़ता है, वैसे-ही-वैसे उसके जीवनमें पराधीनता, भय, रोग, भोगासक्ति और कठोरता आदि बढ़ते जाते हैं, जो प्रत्यक्ष ही दुःखके करण हैं।

इसलिए साधकको चाहिये कि उसने संसारसे जो कुछ लिया है, वह वापस लौटाकर अर्थात् प्राप्त हुई सम्पत्ति और शक्तिके द्वारा उसकी सेवा करके उससे उऋण हो जाय तथा उससे कुछ ले नहीं। एवं अपने-आपको भगवान्‌के समर्पण करके अर्थात् उनका होकर भगवान्‌से उऋण हो जाय। इस प्रकार जब उसपर किसीका ऋण नहीं रहता, तब अन्तःकरण अपने-आप परम पवित्र हो जाता है।

भगवान्‌से भी यही प्रार्थना करे कि 'भगवन् ! मुझे आप अपने किसी भी काममें आने योग्य बना लीजिये। मैं आपकी प्रसन्नताके लिये आपका खिलौना बन जाऊँ या जिस किसी स्थितिमें रहकर आपका कृपापात्र बना रहूँ। इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं चाहिये।'

यदि कोई कहे कि भगवान् तो पूर्णकाम हैं। अपनी महिमामें ही सदा प्रसन्न हैं। उनको अपनी प्रसन्नताके लिये जीवकी क्या आवश्यकता है? तो कहना चाहिये कि भगवान्‌की पूर्णता एकदेशीय नहीं होती। वे तो सभी प्रकारसे पूर्ण हैं, अतः जिसकी जैसी माँग होती है, उसे वे उसी प्रकार पूर्ण करते हैं। वे पूर्णकाम हैं तो भी अपने आश्रित प्रेमीकी माँग पूर्ण करनेमें उनको आनन्द मिलता है।

जो सर्वसमर्थ नहीं होता, उस मनुष्यके पास जाकर कोई कहे कि 'आप मुझे किसी कामपर रख लीजिये, छोटे-से-छोटा कोई भी काम करनेमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है' तो आवश्यकता न होनेपर वह यही कहेगा कि 'मेरे पास अभी कोई काम नहीं है। मैं तुमको नहीं रख सकता, क्योंकि वह इतना समर्थ नहीं है कि सभीको रख सके; परंतु भगवान् तो सर्वसमर्थ हैं। उनके पास तो किसी बातकी कोई कमी नहीं है। फिर जो एकमात्र उनका प्रेम ही चाहता है, जिसको अन्य किसी प्रकारके सुखकी चाह नहीं है, उसको सर्वसमर्थ प्रभु कैसे निराश कर सकते हैं ! वे तो स्वयं उसके प्रेमी बनकर उसे अपना प्रेमास्पद बना लेते हैं। यही उनकी असाधारण महिमा है। जब तक मनुष्य संसारसे कुछ लेनेकी आशा रखता है, तबतक वह कभी सुखी नहीं हो सकता; क्योंकि संसार अनित्य और क्षणभंगुर है। उससे जो कुछ मिलता है, उसका वियोग अवश्यम्भावी है। इस रहस्यको समझकर जो साधक किसीसे कुछ नहीं चाहता, सबकी सब प्रकारसे सेवा करता है और उसके बदलेमें कुछ भी नहीं लेता, वह सदैव प्रसन्न रहता है; पर उसका किसीमें भी राग नहीं रहता तथा सभी उससे प्रेम करते हैं, इससे उसका कोई विरोधी नहीं रहता। अतः वह सर्वथा क्रोधरहित और निर्भय हो जाता है। किसी

प्रकारकी चाहका न रहना एवं लोभ, क्रोध और भय का सर्वथा अभाव हो जाना ही अन्तःकरणकी परम शुद्धि है। अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर योगीको योग, विचारशील को बोध और प्रेमीको प्रेमकी स्वतः प्राप्ति हो जाती है। विचार और प्रेमसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरणमें स्वतः विचार और प्रेम प्रकट होता है। इस प्रकार ये एक दूसरेके सहायक हैं।

चित्त-शुद्धिके लिये यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि साधक किसीका ऋणी न रहे। अर्थात् जिससे जो कुछ मिला है, वह उसे वापस कर दे और क्षमा माँग ले। उसकी प्रसन्नता किसी औरपर निर्भर न रहे। अपनेसे भिन्न वही है जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता नहीं है।

(१६)

पहले यह बात कही गयी थी कि सब प्रकारकी चाहका अभाव विचार और प्रेमसे होता है। उनमेंसे प्रेमकी बात तो पहले कही गयी थी; परंतु विचारके बारेमें विशेष बात नहीं हुई। अतः अब वही कही जाती है।

वास्तव में विवेक, विश्वास और प्रेम--इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। ये एक दूसरेके सहयोगी हैं। विवेकी पहले जानता है और पीछे मानता है अर्थात् उसपर विश्वास करता है एवं विश्वास करनेवाला पहले मानता है और पीछे जानता है।

यदि मनुष्य बुद्धिसे विचार करके अपने दोषोंको जान ले, परंतु उनका त्याग न करे तो केवल जाननेसे काम नहीं चलता। वैसे ही केवल माननेसे भी काम नहीं चलता। अपनी मान्यताके अनुसार जीवन होना आवश्यक है।

विवेक, विश्वास और प्रेम--ये सभी मनुष्योंको प्राप्त हैं। परंतु प्राप्त-विवेकका आदर न करनेके कारण मनुष्य जिनका विश्वास नहीं करना चाहिये, जो विश्वास करनेके योग्य नहीं हैं, अपने जीवनमें जिनपर विश्वास करके बार-बार धोखा खाया है, उनपर तो विश्वास

करता है, उनको अपना मानकर उनसे प्रेम करता है और जिनपर विश्वास करना चाहिये, उनपर नहीं करता। जो इसका सचमुच अपना है, उसको अपना नहीं मानता और उससे प्रेम नहीं करता।

जो कुछ भी दृश्य है, जिसको मनुष्य इन्द्रिय, मन और बुद्धिके द्वारा देखता है, वह चाहे व्यक्तिके रूपमें हो, चाहे देश, काल और वस्तुके रूपमें, सब-का-सब अनित्य है, इससे मनुष्यका सम्बन्ध सदा नहीं रहता।

अज्ञानवश मनुष्य इनके संयोगको सुखका हेतु मान लेता है, परंतु विचार करनेपर मालूम होता है कि किसीका भी संयोग नित्य सुख देनेवाला नहीं है; क्योंकि अपने प्रिय-से-प्रिय मित्रसे भी मनुष्य अलग होना चाहता है। कोई भी वस्तु कितनी भी प्रिय क्यों न हो, उससे भी अलग होता है। यदि सचमुच कोई व्यक्ति, वस्तु और देश-काल सुखप्रद होता तो प्राणी उसे कभी नहीं छोड़ता; परंतु ऐसा नहीं होता। जाग्रतमें जिनके सम्बन्धसे अपने को सुखी समझता है, स्वप्नमें उनके सम्बन्धका त्याग कर देता है। सुषुप्ति-कालमें जाग्रत और स्वप्न दोनोंके ही दृश्योंसे सम्बन्ध नहीं रहता। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी संयोग वियोग से युक्त हैं और संयोगकी अपेक्षा संयोगका अभाव ही अधिक सुखप्रद है। यह सभीके अनुभवमें आता है।

अतः साधकको चाहिये कि संयोगकालमें ही उसके वियोगका दर्शन करके किसी भी व्यक्ति, पदार्थ, देश, काल या परिस्थितिमें आसक्त न हो एवं किसीको अपने सुखका आधार न माने। दृश्य-मात्रसे सर्वथा असंग हो जाय।

प्रतिदिन मनुष्य सुषुप्तिकालमें सब प्रकारके सम्बन्धोंका त्याग करता है; परंतु उसके अन्तःकरणमें राग छिपा रहता है, उसका नाश नहीं होता। इस कारण जगनेपर सबके साथ पहलेकी भाँति सम्बन्ध हो जाता है। जबतक शरीर और समस्त दृश्यवर्गसे सम्बन्ध बना रहता है, तबतक यह उसके सम्बन्धसे अपनेको सुख-दुःखका भोक्ता मानता रहता है तथा दृश्यके सम्बन्धकी आसक्तिके कारण बार-बार

जन्मता और मरता रहता है।

इसलिये साधकको विचार करके निश्चय करना चाहिये कि जो कुछ भी देखने, सुनने और अनुभव करनेमें आता है, शरीर, बुद्धि, मन, इन्द्रियोंके सहित किसी भी दृश्य पदार्थसे मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि मेरी और इनकी न तो जातीय एकता है और न स्वरूपकी ही एकता है। अतः इनका और मेरा सम्बन्ध वास्तविक नहीं है। अज्ञानसे माना हुआ है। मैं इनसे सर्वथा असंग नित्य चेतन हूँ। ये सब-के-सब अनित्य और पर-प्रकाश्य हैं।

मनुष्य अज्ञानवश शरीरमें अहंभाव तथा जाति, वर्ण, आश्रम और क्रियाके साथ अपनी एकता करके मानने लगता है कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं अछूत हूँ, मैं व्यापारी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ इत्यादि; किंतु शरीरसे अलग होकर कोई भी ऐसा अनुभव नहीं करता। अतः विचारशील साधकको सदैव शरीरसे और संसारसे अपनेको सर्वथा असंग कर लेना चाहिये।

जब साधकको यह अनुभव हो जाता है कि 'शरीर मैं नहीं हूँ और दृश्यवर्गसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।' तब उसमें स्वाभाविक असंगता और निर्वासनाका उदय हो जाता है। तब अन्तःकरण अपने आप शुद्ध हो जाता है। उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं रहता। अन्तःकरण शुद्ध होते ही बोध प्रकट हो जाता है और साधकको अपने लक्ष्यकी प्राप्ति हो जाती है। ध्यान रहे कि किसी-न-किसी प्रकारके संगसे 'अहं' का भास होता है और उसीसे 'मम' की उत्पत्ति होती है एवं 'अहं' और 'मम'से ही चित्त अशुद्ध होता है। अतः चित्तशुद्धिके लिये 'अहं' और 'मम' का नाश करना अनिवार्य है और वह तभी होगा जब दृश्यमात्रसे विमुखता प्राप्त होगी। विमुखता प्राप्त होते ही मैं और मेरा, तू और तेरेमें बदल जाता है अर्थात् जो वास्तवमें है, वह शेष रह जाता है। उसीमें प्रेम हो सकता है। उसीसे योग हो सकता है और उसीका बोध होता है। इन तीनोंकी एकता ही वास्तविक एकता है और उसीसे प्राणीके सब प्रकारके अभावोंका अभाव होता है, जो प्राणिमात्रको प्रिय है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध

हो जाता है कि विचारपूर्वक चित्त शुद्ध करना ही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है।

(१७)

साधकको निश्चयपूर्वक समझना चाहिये कि मनुष्यका शरीर विषयोंका भोग करनेके लिये नहीं मिला है। विषयोंका भोग तो पशु-पक्षी आदि हरेक योनिमें यह जीव अनन्तकालसे करता आया है, उसके लिये मनुष्य-शरीरकी कोई विशेषता नहीं है।

मनुष्य-शरीर मिला है अपनी भूलको मिटानेके लिये अर्थात् जीवने जो अपने प्रमादसे अनेक प्रकारके दोषोंका संग्रह कर लिया है, उनको साधनद्वारा नाश करनेके लिये। यदि कोई कहे कि भगवान्‌ने जीवमें भोगों की इच्छा उत्पन्न क्यों की? यदि भोगोंकी वासना न होती तो प्राणी उन भोगोंकी प्राप्तिके लिये चेष्टा ही क्यों करता? तो इसका यह उत्तर है कि जीवमें भोगवासना ईश्वरने उत्पन्न नहीं की है। भगवान्‌ने तो इस परम्परागत भोग-वासनाको मिटानेके लिये ही कृपा करके मनुष्य-शरीर दिया है। यदि इसमें भोग-वासना पहलेसे न होती तो शरीर देनेकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती। जब कोई रोग होता है तभी उसको मिटानेके लिये चिकित्साकी जरूरत होती है। अतः भोग-वासनाको मिटानेके लिये ही भोग-वासनाके साथ-साथ भगवान्‌ने मनुष्यको योगकी, बोधकी और प्रेमकी लालसा भी प्रदान की है। भोगोंका क्षणिक सुख भी किसी-न-किसी प्रकारके संयोगसे अर्थात् विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे मिलता है। यह योगकी ही झलक है। इसी प्रकार रागमें प्रेमकी झलक है। प्रेमका ही दूसरा रूप राग या मोह है और अविवेकमें विवेककी झलक है, क्योंकि विवेकका सर्वथा अभाव नहीं होता। उसकी कमीमें सन्देह उत्पन्न होता है, जो जिज्ञासाके रूपमें बोधका हेतु हो जाता है। जब साधक प्राप्त विवेकके द्वारा अपने बनाये हुए दोषोंको दूर कर लेता है, तब भोग-वासना योगमें, राग अनुरागमें और अविवेक बोधमें बदल जाता है। दोषोंकी उत्पत्ति और गुणोंका अभिमान-यही चित्तकी अशुद्धि है। इसीको मिटानेके लिये साधन है। अतः साधकमें

बोधका, योगका और प्रेमका भी अभिमान नहीं रहना चाहिये। अभिप्राय यह है कि योग हो, परंतु मैं योगी हूँ , ऐसा अभिमान न हो। ज्ञान हो, परंतु मैं ज्ञानी हूँ, ऐसा अभिमान न हो और प्रेम हो, परंतु मैं प्रेमी हूँ, ऐसा अभिमान न हो।

भगवान्‌से जीवकी किसी प्रकारकी भी दूरी नहीं है। भगवान् और जीव जातिसे और स्वरूपसे भी एक है। दोनों ही नित्य हैं, अतः कालकी भी दूरी नहीं है। दोनों एक ही जगह रहते हैं, अतः देशकी भी दूरी नहीं है। दोनोंका सम्बन्ध भी नित्य है। इतनी निकटता और एकता होते हुए भी जो दूरीकी प्रतीति होती है, वह केवल अभिमानके कारण है।

जब कभी भक्तके मनमें किसी प्रकारके अभिमानकी छाया आ जाती है, जब उसका नाश करनेके लिए भगवान् उसके सामनेसे छिप जाया करते हैं। रासक्रीड़ा करते समय जब गोपियोंके मनमें यह बात आयी कि 'अब तो श्यामसुन्दर हमारे अधीन हो गये, हम जैसा कहती हैं, ये वैसा ही करते हैं।' बस, यह मनमें आते ही उनके सामनेसे भगवान् अन्तर्धान हो गये। जिसके मन में अभिमान नहीं आया था, उसको अपने साथ ले गये। आगे चलकर जब उसके मनमें अभिमान आया, वह कहने लगी कि 'मुझसे अब चला नहीं जाता। मुझे कंधेपर उठा लीजिये।' तब उसको भी वहीं छोड़कर अन्तर्धान हो गये। पीछेसे जब श्यामसुन्दरको खोजनेवाली अन्य गोपियाँ उससे मिलीं और वहाँ भी श्यामसुन्दर नहीं मिले, तब वे सब श्यामसुन्दरके विरहसे व्याकुल होकर उनको वनमें सब ओर खोजने लगीं। लता-पत्ता, पशु-पक्षी आदि हरेक प्राणीसे पूछने लगीं कि 'तुमने श्यामसुन्दरको देखा होगा। वे किधर गये।' इतनेपर भी जब श्यामसुन्दर नहीं मिले, तब जहाँसे लीला आरम्भ हुई थी, वहीं आकर विरह-व्याकुलतासे उनमें तन्मय हो गयीं और उन्हींकी लीलाका अभिनय करने लगीं। जब उस व्याकुलताके दुःखसे उनका अभिमान गल गया, तब श्यामसुन्दर वहीं प्रकट हो गये। वे जब अन्तर्धान हो गये थे, तब भी वहीं थे। कहीं गये नहीं थे, पर गोपियाँ उनको जान

नहीं पायीं। प्रकट होनेपर जब गोपियाँ उन्हें उलाहना देने लगीं, तब उन्होंने यही कहा कि 'मेरी प्यारी सखियो ! मैं तो सदैव तुम्हारे ही पास था। कहीं दूर नहीं गया था। मैं तो तुम्हारे प्रेम-रसकी वृद्धिके लिये ही छिपा था इत्यादि।' अतः साधकको कभी किसी प्रकारका भी अभिमान नहीं करना चाहिये।

भगवान् जो जगत्की रचना करते हैं, उसमें भगवान्का जीवोंको नाना भाँतिसे रस-प्रदान करना और स्वयं उनके प्रेम-रसका आस्वादन करना-यही उद्देश्य है। विचारशील साधकका चित्त शुद्ध होनेपर उसको बोध प्राप्त होता है और उसके बाद प्रेमकी प्राप्ति होती है। कोई कहे कि बोधके बाद प्रेमकी प्राप्ति कैसी? उसका तो शरीर-मन आदिसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। फिर प्रेम कौन किससे और कैसे करता है? इसका उत्तर यह है कि प्रेमीका मन, इन्द्रियाँ आदि कुछ भी भौतिक नहीं रहते। उसके मन-बुद्धि आदि सभी दिव्य और चिन्मय होते हैं; क्योंकि भगवान् स्वयं जिस चिन्मय प्रेमकी धातुसे बने हैं, उसीसे उनका प्रेमी, उनका दिव्य धाम और सब कुछ बने हैं। उनमें कोई भी भौतिक वस्तु नहीं है। इसलिये बोधके बाद प्रेम होना असंगत नहीं है। इसीमें तो सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म लीलामय परमेश्वरके सगुण-साकार रूपकी सार्थकता है। प्रेमके अतिरिक्त सगुण-ब्रह्मके होनेमें कोई कारण ही नहीं है।

प्रेम अनन्त है, उसका कभी अन्त नहीं होता; क्योंकि प्रेमी और प्रेमकी लालसा एवं प्रियतम सभी नित्य और असीम हैं, अतः उनके मिलनमें और वियोगमें सदैव आकर्षण रहता है तथा नित्य नया प्रेम बना रहता है।

भगवान् जीवके नित्य साथी हैं। हम कभी उससे अलग नहीं होते। तथापि प्राणी उनको जानता नहीं, भूल गया है। जैसे किसीकी जेबमें घड़ी पड़ी हो और वह उसे भूल जाय तो अपने पास होते हुए भी वह उससे दूरीका अनुभव करता है। जबतक उसे यह मालूम नहीं होता कि घड़ी मेरे पास मेरी जेबमें ही है, तबतक वह उसे खोजता रहता है और उसके बिना दुःखी होता है; परंतु जब उसको

बोध हो जाता है, तब वह घड़ी उसे मिल जाती है। उसी प्रकार यह जीव जबसे भगवान्‌को भूल गया है, तबसे अपनेको उनसे अलग मानकर दुःखी हो रहा है।

यह भूल मिटकर जो अपने प्रेमास्पदके सम्बन्धका स्मरण हो जाना है, यही वास्तविक स्मरण है। अतः नाम-जप आदि साधन करते समय भी साधकको यह नहीं भूलना चाहिये कि 'यह नाम मेरे प्रियतमका है।'

चित्तशुद्धिके लिये साधकको चाहिये कि या तो विकल्परहित विश्वास करके यह माने कि 'मेरी और प्रभुकी जातीय एकता है। अतः वे ही मेरे हैं। अन्य कोई मेरा नहीं है।' और यह मानकर एकमात्र प्रेमास्पद प्रभुके प्रेमकी लालसा प्रकट करे अथवा शरीर और संसारमें माना हुआ जो 'मैं और मेरापन' है, उसे विचार के द्वारा दूर करके सच्चिदानन्दघन परमात्मासे अपने स्वरूपकी एकताका बोध प्राप्त करे।

जातीय एकता और स्वरूपकी एकताका विश्वास और बोध होनेपर ही प्रेम तथा बोधकी प्राप्ति सम्भव है। अन्य प्रकारसे नहीं।

(१८)

पहले यह बात कही गयी थी कि चित्त-शुद्धिके लिये ईश्वरके साथ जातीय एकता मानना अथवा स्वरूपकी एकताको जानना अनिवार्य है। आज उसीपर विचार करना है।

यह नियम है कि प्राणी जिसके साथ 'मैं' को मिला देता है, वही सत्य प्रतीत होने लगता है और अपनेसे भिन्न समझकर जिसके साथ अपनत्वका सम्बन्ध मान लेता है, उसमें आसक्ति हो जाती है; जिसको पराया समझ लेता है, उसमें द्वेष हो जाता है।

मनुष्यका 'मैं' भाव जगत्‌में अनेक प्रकारसे बँटा हुआ है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं महत्तर हूँ, मैं हिंदू हूँ, मैं मुसलमान हूँ, मैं ईसाई हूँ, मैं हिंदुस्तानी हूँ, मैं यूरोपियन हूँ, मैं अमेरिकन हूँ-इस प्रकार शरीर, जाति, देश, वर्ण, आश्रम और परिस्थिति आदिके साथ

'मैं' को मिलाकर मनुष्य उनमें सद्‌भाव कर लेता है। उन्हींको अपना जीवन मानने लगता है। इस कारण उसको यह बोध नहीं होता कि वास्तवमें मेरी और इनकी न तो स्वरूपसे एकता है और न जातीय एकता है तथा यह भी नहीं जानता कि इनकी स्वीकृति मैंने किसी प्रकारके साधनका निर्माण करके इनसे ऊपर उठने और अपने लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये की है।

यद्यपि प्रत्येक प्रकारकी मान्यताके साथ उससे सम्बन्ध रखने वाला विधान रहता है। जैसे कोई मानता है कि मैं हिंदू हूँ, तो हिंदू माननेवालेके लिये जो हिंदूधर्ममें उसके वर्ण, आश्रमके अनुसार कर्त्तव्यका विधान किया गया है, उसे भी मानना चाहिये। यदि उसे मान ले तो साधक वर्तमान परिस्थितिकी आसक्तिसे रहित होकर अपने लक्ष्यकी ओर आगे बढ़ जाय, इसमें कोई संदेह नहीं है; क्योंकि मनुष्यको जो परिस्थिति प्राप्त होती है, वह उसको सदैव अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर करनेके लिये ही होती है; परंतु इस रहस्यको न समझनेके कारण प्राणी उसका सदुपयोग नहीं करता।

यही कारण है कि आज जो अपनेको हिंदू कहता है, वह हिंदूपनका अभिमान करके दूसरोंके साथ राग-द्वेष कर लेता है। अर्थात् मानने लगता है कि जो हिंदू हैं, वे तो अपने हैं। जो हिंदू नहीं हैं, वे पराये हैं। अतः अपनेको हिंदू माननेवालोंमें आसक्ति और दूसरोंमें द्वेष करने लगता है। यदि वह अपनेको हिंदू माननेके साथ-साथ उसके विधानको भी मानता तो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु'के अनुसार सबमें प्रेम करता, किसीसे भी राग-द्वेष नहीं करता। इसी प्रकार सबमें समझ लेना चाहिये।

महापुरुषोंने जब जो सम्प्रदाय चलाया है, वह मनुष्यको उन्नत बनानेके लिये साधनरूप बनाया है। अतः प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक प्रकारकी मान्यता, अपने-अपने अधिकार, अपनी-अपनी योग्यता और प्रीतिके अनुसार उसे साधन मानकर चलनेवालेके लिए हितकर है। इस दृष्टिसे सभी सम्प्रदाय और सभी मान्यतायें आदर करनेके योग्य हैं।

परंतु जब मनुष्य शरीर, जाति, वर्ण, आश्रम, धर्म, देश और परिस्थितिके साथ एकता मानकर उनमें अभिमान कर लेता है एवं उसके अनुसार अपनेको नाना भावोंमें बाँधकर राग-द्वेष करने लगता है, तब उसका चित्त अशुद्ध होता रहता है।

इसलिए साधकको चाहिये कि विचार और विश्वासके द्वारा यह निश्चय करे कि मैं शरीर नहीं हूँ। यह मनुष्य-शरीर मुझे भगवान्‌की कृपासे साधनके लिये मिला है। यह निश्चय करके शरीरमें, या किसी प्रकारकी परिस्थितिमें सद्‌भाव न करे। उसे अपना जीवन न माने। जो कुछ प्राप्त है, उसका सदुपयोग करे। प्राप्तका सदुपयोग करनेसे और अप्राप्तकी चाह न करनेसे रागकी निवृत्ति हो जाती है। राग निवृत्त हो जानेपर द्वेष अपने आप मिट जाता है और राग-द्वेषका अभाव हो जानेसे निर्वासना आ जाती है। फिर किसी प्रकारकी चाहका उदय नहीं होता। यही चित्त शुद्धि है। चित्त शुद्ध होनेपर योग, बोध और प्रेम अपने आप प्रकट हो जाते हैं।

वर्तमान परिवर्तनशील जीवनमें मनुष्यको जहाँ कहीं सत्यता और प्रियताकी प्रतीति हो रही है, उसका मूल कारण उपर्युक्त माना हुआ अभेदभावका और भेदभावका सम्बन्ध है। दूसरा कुछ नहीं। यदि शरीर आदिसे अभेदके सम्बन्धका विच्छेद कर दिया जाय तो उसकी सत्यता और जड़ता चिन्मयतामें बदल जाती है। अर्थात् मैं शरीर हूँ, यह भाव मिट जाता है। इसके मिटते ही देहधर्ममें जो आसक्ति हो गयी है, वह मिट जाती है। उसके मिटते ही शरीर और उससे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंमें सत्यताकी गन्धमात्र भी शेष नहीं रहती। उसके मिटते ही राग वैराग्यमें तथा भोग योगमें बदल जाते हैं। फिर जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता है, उसका बोध और उससे प्रेम स्वतः हो जाता है, जो प्राणीकी वास्तविक आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति अत्यन्त आवश्यक और स्वाभाविक है। अतः उससे निराश होना एकमात्र प्रमादके सिवा और कुछ नहीं है; क्योंकि स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्ति और अस्वाभाविक इच्छाओंकी निवृत्ति करना ही प्राणीका पुरुषार्थ है।

(१६)

पहले कहा गया था कि प्राणी जिसके साथ 'मैं' को मिला लेता है उसे वही सत्य प्रतीत होने लगता है। इसपर साधकको विचार करना चाहिये कि मैं जो अपनेको मनुष्य मानता हूँ तो पशु-पक्षी आदि अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा इसमें क्या विशेषता है? आहार, निद्रा, मैथुन आदि विषय-भोगोंका सुख तथा उनके वियोगका और मरनेका भय, यह सब तो उनमें भी होते हैं वरन् मनुष्यकी अपेक्षा भी उनका विषय-सेवन अधिक नियमित और प्रकृतिके अनुकूल है।

विचार करनेपर मालूम होगा कि उनकी अपेक्षा मनुष्यमें विवेकशक्ति अधिक है। उसके द्वारा वह यह समझ सकता है कि मैं वास्तवमें कौन हूँ, मुझे क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये इत्यादि।

यदि मनुष्य इस विवेकशक्तिका आदर न करे, उसका सदुपयोग न करके भोगोंके सुखको ही अपना जीवन मान ले तो वह पशु पक्षियोंसे भी गया-बीता है; क्योंकि पशु-पक्षी आदि तो कर्मफल-भोगके द्वारा पूर्वकृत कर्मोंका क्षय करके उन्नतिकी ओर बढ़ रहे हैं, किंतु विवेकका आदर न करनेवाला मनुष्य तो उलटा अपनेको नये कर्मोंसे जकड़ रहा है। अपने चित्तको और भी अशुद्ध बना रहा है।

अतः साधकको चाहिये कि प्राप्त विवेकका आदर करके उसके द्वारा इस बातको समझे कि यह मनुष्य-शरीर उसे किसलिये मिला है, इसका क्या उपयोग है ! विचार करने पर मालूम होगा कि यह साधनधाम है। इसमें प्राणी अपना चित्त शुद्ध करके अपने लक्ष्यकी प्राप्ति कर सकता है।

चित्त-शुद्धिके लिये यह आवश्यक है कि साधक ऐसे संकल्प न करे, जिनकी पूर्ति किसी दूसरेपर अवलम्बित हो, जिन्हें वह स्वयं पूरा कर सकता हो; क्योंकि जो मनुष्य दूसरोंके द्वारा उपार्जित वस्तुओंसे या उनके परिणामसे अपने संकल्पोंकी पूर्ति चाहता है एवं करता और कराता रहता है उसके संकल्प चाहे कितने ही शुभ क्यों

न हों, उसका चित्त शुद्ध नहीं होता। अपने संकल्पोंको दूसरोंके द्वारा पूरा करानेवाला उनका ऋणी हो जाता है एवं उसका चित्त अशुद्ध होता रहता है और पराधीनताकी वृद्धि होती है। पराधीन प्राणी कभी सुखी नहीं हो सकता। अतः दूसरोंपर अपना कोई अधिकार नहीं मानना चाहिये।

अपने द्वारा पूरे किये जाने योग्य आवश्यक संकल्पोंको पूरा कर देना चाहिये; किंतु उनकी पूर्तिके रसका उपभोग नहीं करना चाहिये। इसके उपभोगसे रागकी वृद्धि होती है और अन्तःकरण अशुद्ध होकर उसमें पुनः संकल्पोंकी बाढ़ आ जाती है।

साधकको हरेक प्रवृत्तिद्वारा दूसरोंके अधिकार और संकल्पोंकी रक्षा और पूर्ति करते रहना चाहिये। उसमें भी ऐसा अभिमान कभी नहीं करना चाहिये कि मैंने दूसरोंका कोई उपकार किया है, प्रत्युत् यह समझना चाहिये कि इन्हींके लिये प्राप्त हुई शक्ति और पदार्थ मैंने इनको दिये हैं। इसमें मेरा कुछ नहीं है। जैसे कोई डाकिया डाकघरसे प्राप्त रुपयोंको या पारसलको पानेवाले व्यक्तिके पास पहुँचा देता है तो उसमें उसका उस व्यक्तिपर कोई अहसान नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि अपना कर्त्तव्य ठीक-ठीक पालन करनेके नाते उसे सरकारकी प्रसन्नता प्राप्त होती है। इसी प्रकार प्राप्त शक्तिका सदुपयोग करनेसे साधकको भी भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त होती है।

दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करनेके लिये अर्थात् उनके मनमें उत्पन्न संकल्पकी पूर्तिद्वारा उनकी प्रसन्नताके लिये साधकको कोई आवश्यक वस्तु लेनी पड़े या कोई उनके द्वारा किया हुआ काम स्वीकार करना पड़े तो वह चित्तकी अशुद्धिका हेतु नहीं है। उसमें साधकको यह भाव रखना चाहिये कि यह शरीर भी भगवान्‌का ही है। अतः भगवान्‌ने इनके द्वारा अपने-आप जो इस शरीरके लिये आवश्यक वस्तु प्रदान की है, उसे इनसे लेकर, इसके उपभोगमें लगा देना है, यह भी देना ही है; परंतु इसमें भी उपभोगके रसका संग नहीं होना चाहिये, क्योंकि रसका उपभोग करनेसे अपने शरीरमें

अहंभाव और जिनके द्वारा संकल्पोंकी पूर्ति की जाती है, उन व्यक्तियोंमें आसक्ति हो जाती है। इससे चित्तमें अशुद्धि बढ़ती है।

प्राप्त शक्तिका उपयोग अपने संकल्पोंकी पूर्ति तो पशु-पक्षी भी करते हैं। वही काम यदि मनुष्य भी करता रहे तो उसमें मनुष्यशरीरकी क्या विशेषता हुई ! अतः साधकको समझना चाहिये कि जिस प्रकारकी जो कुछ भी शक्ति भगवान्‌ने दूसरोंको देनेके लिये अर्थात् उनकी प्रसन्नता और हितमें लगानेके लिये प्रदान की है, उसका उपयोग भगवान्‌के आज्ञानुसार कर देना ही मनुष्यता है।

इतना करनेपर भी सर्वथा चित्तशुद्धि नहीं होती; क्योंकि जबतक शरीरमें अहंता-ममता रहती है, तबतक किसी-न-किसी प्रकारका रस अर्थात् आसक्ति रहती है। आसक्तिके रहते हुए संकल्पोंका जाल नहीं टूटता। किसी-न-किसी प्रकार की चाह बनी रहती है। यह चाह ही चित्तकी अशुद्धि है। अतः साधकको अहंता-ममताका त्याग कर देना चाहिये।

मनुष्यकी चाहके दो भेद होते हैं-एक तो दृश्यकी चाह, जो कि उसका पतन करनेवाली है। जैसे नदियोंमें नीचेकी ओर बहनेवाला जल समुद्रमें पहुँच जाता है। वहाँसे बादल बनकर बरसता है और झरनों तथा नालोंके द्वारा पुनः नदीमें आकर समुद्रमें चला जाता है। इसी प्रकार इस दृश्यकी चाह करनेवाला मनुष्य भी जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़कर नाना योनियोंमें भटकता रहता है। दूसरी उस प्रेमास्पदकी चाह (लालसा) जिससे यह दृश्यवर्ग--सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है और जो इसका प्रकाशक और इसे सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला है। यह चाह (लालसा) साधकको उस प्रेमास्पदसे मिला देती है। अर्थात् शरीर और संसारमें अहंता-ममता न रहनेके कारण जिस साधककी दृश्य-जगत्‌में कहीं भी आसक्ति नहीं रही है, भोगवासना न रहनेके कारण चाहका सर्वथा अभाव हो गया है, जो एकमात्र भगवान्‌पर विश्वास करके उन्हींको अपना मानता है एवं जिसके मन-बुद्धि-अहंभाव आदि एकमात्र भगवत्प्रेमके रूपमें बदल गये हैं, भगवान्‌का प्रेम ही जिसका जीवन है, वह अपने प्रेमास्पदको पा लेता है और

नित्य-नव अनन्त प्रेमरसका अनुभव करता रहता है।

जो समस्त दृश्यवर्गकी चाहकी निवृत्ति कर देता है, उस चाहरहित साधकको जो दिव्य आनन्द मिलता है, वह चाहयुक्त प्राणीको चाहकी पूर्तिमें कभी नहीं मिलता। यह संतोंके अनुभवकी बात है। जिसको विश्वास न हो, वह अधिक नहीं तो, दो-चार मिनट चाहरहित होकर देख ले। चाहरहित होनेके कालमें उसे वह सुख मिलेगा, जो उसके जीवनमें चाहकी पूर्तिसे कभी नहीं मिला; क्योंकि चाहकी पूर्तिमें वास्तविक सुख नहीं मिलता बल्कि सुखकी प्रतीति होती है, जो दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाती है।

(२०)

चित्तकी अशुद्धिके अनेक कारण होते हैं और उसकी शुद्धिके उपाय भी अनेक हैं। उनमेंसे एक प्रधान कारण अभिमान भी है। अभिमान उसे कहते हैं, जिससे मनुष्य किसी प्रकारके गुणके साथ अपनी एकता करके अपनेको दूसरोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ मानने लगता है।

इस अभिमानके कारण मनुष्य जिनमें उस गुणका अभाव या कमी देखता है, उनको तुच्छ समझकर उनसे घृणा करने लगता है और जिनमें अपनेसे अधिक देखता है, उनसे ईर्ष्या करने लगता है। इस प्रकार घृणा और ईर्ष्याके कारण उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है।

गुणके अभिमानसे मनुष्यको अपने दोषोंका दर्शन नहीं होता। अतः वह उनको हटा नहीं सकता। गुणोंका अभिमान स्वयं ही एक बड़ा भारी दोष है। उसके रहते हुए दूसरे दोषोंका नाश कैसे किया जा सके। संतोंका कहना है कि अभिमानी योगीसे पश्चाताप करनेवाला पापी अच्छा है; क्योंकि अच्छाईका अभिमान ही बुराईका मूल है।

जो मनुष्य यह समझता है कि मैं सत्यवादी हूँ, उसमें कहीं-न-कहीं झूठ छिपा हुआ है। यदि वह सचमुच सत्यवादी हो तो उसे यह भास ही नहीं होना चाहिये कि मैं सत्यवादी हूँ। अपितु सत्य बोलना उसका जीवन बन जाना चाहिये। जो गुण साधकका जीवन बन

जाता है उसमें साधकका अभिमान नहीं होता। वह उसके कारण अपनेमें किसी प्रकारकी विशेषताका अनुभव नहीं करता। जबतक किसी गुणका गुणबुद्धिसे भास होता है, उसमें रसका अनुभव होता रहता है, तबतक मनुष्यमें अनेक प्रकारके दोषोंकी उत्पत्ति होती रहती है। अतः गुणके अभिमानसे चित्त अशुद्ध होता रहता है।

गुणके अभिमानसे भेदबुद्धि उत्पन्न हो जाती है। जो समझता है कि मैं ईश्वरको मानता हूँ, आस्तिक हूँ और अमुक आदमी ईश्वर और धर्मको नहीं मानता, वह नास्तिक है। इस भेदभावके कारण जिसकी ईश्वरको न माननेवालेमें तुच्छ बुद्धि द्वेष हो जाता है, वह उससे प्रेम नहीं कर सकता। बिना प्रेमके एकता नहीं होती। परंतु जो सच्चा आस्तिक होता है, उसको किसीमें भी घृणा या द्वेष नहीं होता। वह तो सबमें अपने प्रेमास्पदका दर्शन करता है। अतः सबसे प्रेम करता है।

साधकको विचार करना चाहिये कि मेरे स्वामीका कैसा स्वभाव है वे मुझसे क्या आशा रखते हैं? क्या उनको न माननेवालेको वे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि तत्त्वोंके उपभोगमें उतनी ही स्वतन्त्रता नहीं प्रदान करते, जितनी कि एक आस्तिक को करते हैं? यदि भगवान् उसके साथ भेद करें तो क्षणभर जीवित रहना भी उसके लिये असम्भव हो जाय, किंतु वे ऐसा नहीं करते। अतः वे अपने भक्तको भी वैसा ही आदेश देते हैं।

अपनेमें साम्यवादीपनका अभिमान रखनेवाला यदि उनसे द्वेष करता है, जो साम्यवादी नहीं हैं तो वह द्वेष करनेवाला क्या सच्चा साम्यवादी है? क्या उसमें समता है?

इसी प्रकार हरेक गुणके अभिमानमें समझ लेना चाहिये। गुणके अभिमानीमें गुणकी पूर्णता नहीं होती। जिसमें गुणकी पूर्णता होती है, उसमें अभिमान नहीं होता—यह उसकी कसौटी है।

गुणके अभिमानीको दूसरेमें दोष-ही-दोष प्रतीत होते हैं। इस कारण वह अपने दोषोंकी ओर नहीं देखता। उसमें गुणके अभिमानके

कारण दोषोंकी पुष्टि होती चली जाती है। अतः साधकको चाहिये कि अपने दोषोंका निरीक्षण करे और उनका त्याग करे एवं पुनः उनको उत्पन्न न होने दे तथा गुणोंके अभिमानको दूसरे दोषोंसे भी बढ़कर दोष समझकर उसको कभी उत्पन्न न होने दे।

जो साधक गुणोंमें अभिमान नहीं करता, उनका रस लेकर उनमें बँधता नहीं और दोषोंको उत्पन्न नहीं होने देता, उसका चित्त शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है।

कर्ममें और मान्यतामें भेद रहते हुए भी स्नेहकी एकता होनी चाहिये। कर्ममें और मान्यतामें भेद होना अनिवार्य है। इसे कोई मिटा नहीं सकता। अतः कर्मके भेदको लेकर या मान्यताके भेदको लेकर स्नेहमें भेद करना अर्थात् किसीमें राग और किसी में द्वेष करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। इससे चित्तमें अशुद्धि आती है। अभिमान अधिकारकी लालसाको जाग्रत् करता है। उससे वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, जो परतन्त्रताकी मूल हैं। अपने कर्त्तव्यपालनसे दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करना ही वास्तवमें अधिकार है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है। जो अपने अधिकारको भूलकर दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करते हैं, उनका हृदय प्रेमसे भर जाता है। उनको निर्वासना प्राप्त होती है। वासनारहित होना ही 'मुक्ति' और हृदयका प्रेमसे भर जाना ही 'भक्ति' है। सच्चा ईश्वरवादी अनीश्वरवादीमें भी ईश्वरका दर्शन करता है। सच्चे साम्यवादीके हृदयमें सबके प्रति अगाध स्नेह रहता है।

जो मान्यता तथा जो सिद्धान्त मनुष्यको स्नेहसे दूर करके राग-द्वेषमें आबद्ध करते हैं, वे चाहे कितने ही सुन्दर क्यों न हों, उनसे चित्त शुद्ध नहीं होता। चित्त शुद्ध करनेके लिये तो साधकको अपना हृदय प्रेमसे भरना होगा और सभी वासनाओंका अन्त करना होगा। वह तभी सम्भव है जब साधक सब प्रकार अभिमानसे रहित होकर अपने अधिकारको भूल जाय। यही चित्त-शुद्धिका सुन्दर और सुगम उपाय है तथा चित्त शुद्ध होनेपर ही साधक वास्तविक योग, बोध तथा प्रेमको प्राप्त कर सकता है। चित्त शुद्ध करनेमें साधक

परतन्त्र नहीं है; क्योंकि चित्त-शुद्धि अपने बनाये हुए दोषोंके त्यागसे होती है, जिसके करनेमें सभी साधक सर्वदा स्वतन्त्र हैं।

(२१)

पहले कहा गया कि श्रेष्ठ गुणोंका अभिमान भी चित्तकी अशुद्धिका कारण है, उसीपर पुनः विचार किया जाता है। प्रत्येक प्राणी आदर और सम्मान चाहता है; परंतु जबतक मनुष्य करने योग्य कामको जिस प्रकार कुशलतापूर्वक करना चाहिये, उस प्रकार पूरा नहीं करता और न करने योग्य व्यर्थ कामको करता रहता है, तबतक उसको आदर नहीं मिलता। आदर उसीको मिलता है जो कर्त्तव्यपरायण और संयमी होता है। इसलिये साधकको कर्त्तव्यपरायण होना चाहिये अर्थात् करने योग्य कामको कुशलतापूर्वक पूरा कर देना चाहिये। उसके करनेमें न तो किसी प्रकारका प्रमाद करना चाहिये और न आलस्य करना चाहिये। जबतक मनुष्य आलस्य और प्रमादका त्याग नहीं करता, तबतक कोई भी काम सर्वांगसुन्दर नहीं हो सकता। इसी प्रकार साधकको कोई भी ऐसा काम नहीं करना चाहिये जिसका करना आवश्यक न हो और जिसमें किसीका हित निहित न हो। मन और इन्द्रियोंकी व्यर्थ चेष्टा न होने देनेका नाम ही संयम है। संयमी मनुष्यके नेत्र खुले रहते हैं, परंतु जिसको न देखना चाहे, वह वस्तु उसे नहीं दीखती। कान खुले रहते हुए भी, जिसको नहीं सुनना चाहिये, वह सुनायी नहीं देता। इतनेपर भी साधकको यह अभिमान नहीं होना चाहिये कि मैं कर्त्तव्यपरायण हूँ या मैं संयमी हूँ; क्योंकि गुणका अभिमान होनेसे वह गुण दोषके रूपमें बदल जाता है। उसमें वास्तविकता नहीं रहती, दिखावा रह जाता है अर्थात् वह दम्भाचारका रूप धारणकर लेता है।

साधक वही है जिसका हरेक गुण जीवन बन जाता है और किसी भी गुणमें जिसका अभिमान नहीं होता तथा जो गुणोंका आचरण किसी लालच या भयसे नहीं करता; क्योंकि आदर-सम्मानके लालचसे या अनादरके भयसे किया हुआ आचरण सच्चा आचरण नहीं होता। अतः वह चित्तको शुद्ध नहीं होने देता।

जो मनुष्य ऊपरके आचरणोंमें सुन्दर वस्त्रोंका पहनना छोड़ देता है, पलंगके सुन्दर बिछौनेको काममें नहीं लाता, सब प्रकार सादगीसे रहता है; परंतु भीतर चित्तमें उनकी वासना है या उनके त्यागका अभिमान है; उस सादगीसे उसका चित्त शुद्ध नहीं होता। उससे तो अपनेमें त्यागका अभिमान और दूसरोंसे घृणा उत्पन्न हो जानेके कारण चित्त अशुद्ध रहता है।

साधनका दम्भ करनेवालेसे साधन न करनेवाला अच्छा है; क्योंकि साधन न करनेवाला तो भविष्यमें साधक बन सकता है, परंतु जो दम्भी मनुष्य सम्मानके लिये या अन्य किसी कारणसे दिखाऊ साधन करता है और अपनेको साधक दिखलाना चाहता है, उसका सुधार होना कठिन है।

अतः चित्तकी शुद्धिके लिये साधन करनेवाले साधकको चाहिये कि साधनका अभिमान न करे और उसमें किसी प्रकारका दिखावापन न आने दे।

जो मनुष्य नेता या प्रचारक बन जाता है या उपदेष्टा बन जाता है, उसका चित्त शुद्ध होना कठिन है; क्योंकि दूसरोंके दोषोंको देखना उसके लिये आवश्यक काम हो जाता है। दूसरोंके दोषोंको बिना देखे उनको दूर करनेका उपाय वह श्रोताओंको कैसे बतायेगा। इसी प्रकार अपने दोषोंको भी वह प्रकट नहीं कर सकता; क्योंकि हरेक प्रकारसे अपने दोषों को छिपाना उसका स्वभाव बन जाता है। दूसरोंके दोषोंको देखना, अपनेमें गुणोंका अभिमान होना और उन गुणोंका प्रदर्शन करना तथा अवगुणों को छिपाना--ये सभी चित्तकी अशुद्धिके कारण हैं। इसीलिये शास्त्रोंमें नेता या गुरु बननेको पतनका हेतु माना है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह काम महापुरुषोंके ही उपयुक्त है। साधकको इस बखेड़ेमें कभी नहीं पड़ना चाहिये।

अपने दोषोंको सामने रखकर परस्पर विचार-विनिमय करना, अपने सुधारके लिये परस्पर परामर्श करना--नेतागिरी या उपदेष्टा बनना नहीं है। अतः साधकको जब कोई सुधारकी बात दूसरोंके सामने कहनेका मौका प्राप्त हो जाय, तब उसमें अपने सुधारका

लक्ष्य रखते हुए ही उसे बोलना चाहिये। जो साधक अपनेमें यह अभिमान रखता है कि मैं सत्संगी हूँ, दोषोंको किस प्रकार दूर करना चाहिये, किस प्रकार सद्‌गुण और सदाचारका पालन करना चाहिये, इस बातको मैं समझता हूँ दूसरे नहीं समझते। इस भावको लेकर जो दूसरोंके दोषोंको देखता रहता है और उनको दूर करनेके लिये दूसरोंसे कहता रहता है, उसका चित्त अनेक प्रकारसे कोशिश करते रहनेपर भी शुद्ध नहीं हो पाता। यही कारण है कि वह अनेक वर्षोंतक सत्संग करते हुए भी अपने लक्ष्यको प्राप्त नहीं कर सकता।

जबतक मनुष्यको अपना साधन भाररूप प्रतीत होता है, तबतक उसकी प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं हुई। जैसे सत्संगमें जाता है तो या तो ठीक निश्चित समयपर जाता ही नहीं। जाता है तो सत्संगकी बातोंको ध्यानपूर्वक सुनता नहीं। शरीर सत्संगमें बैठा है, मन कहीं दूसरा ही काम कर रहा है। इसी प्रकार जप-ध्यान आदि साधनोंमें भी मन नहीं लगता। ऐसी स्थितिमें उसे समझना चाहिये कि मेरे साधनका निर्माण नहीं हुआ। जो साधन मैं कर रहा हूँ, वह मेरी योग्यता और रुचिके अनुकूल नहीं है। जो साधन साधकको अपना जीवन प्रतीत होता हो, जिसके बिना उसे चैन नहीं पड़ता, साधन किये बिना रहा नहीं जा सकता, जीवनसे भी साधन अधिक प्रिय हो जाता है, साधनोपयोगी हरेक काम ठीक समयपर करनेमें नित्य नया उत्साह और प्रेम बढ़ता रहता है, तब समझना चाहिये कि अब प्रभुकी और महापुरुषोंकी कृपासे मेरे साधनका निर्माण हुआ है। सच्चे साधकमें कभी भी साधनका अभिमान नहीं होता और उसे किसी भी अवस्थामें साधन भाररूप नहीं प्रतीत होता, यह नियम है।

साधन कोई भी छोटा-बड़ा नहीं होता, किंतु उसमें प्यार होना चाहिये और उसे पूरी शक्ति लगाकर उचित ढंगसे करना चाहिये। मान लो, किसीने यह निश्चय किया कि मैं तो केवलएक बार प्रभुका नाम लूँगा और ठीक चार बजे प्रातःकाल लूँगा। इस निश्चयके अनुसार यदि वह एक सेकेंड भी कालका व्यतिक्रम न करके प्रतिदिन प्रातःकाल ठीक चार बजे प्रभुका नाम एक बार प्रेमपूर्वक ले लेता है और प्रभुके प्रेममें सराबोर हो जाता है तो वह एक बार लिया हुआ

नाम ही उसका उद्धार कर देगा। जिस साधकका यह निश्चय है कि एकादशीको मरनेवालेकी सद्‌गति होती है, अतः मेरी मृत्यु उसी दिन होगी, तो वह ठीक उसी दिन मरेगा। जिस साधकका भगवान्‌के ध्यानमें विश्वास और प्रेम है एवं ठीक नियमित समयपर प्रेमपूर्वक वह ध्यान करता है तथा उसकी यह इच्छा है कि मैं ध्यान करता हुआ ही मरूँ, तो वह ध्यान करता-करता ही मरेगा। मनुष्यके विश्वासपूर्वक किये हुए संकल्पमें अद्‌भुत शक्ति होती है। पर वह जो कुछ करे उसे सांगोपांग सुन्दर-से-सुन्दर प्रेमपूर्वक करना चाहिये।

जो लोग भगवान्‌का नाम-जप एवं चिन्तन करते हैं और चिन्तन या कीर्तन करते समय जब कभी उनको कुछ रस मिल जाता है तो उसीमें संतोष कर लेते हैं और साधनकी सफलता मान लेते हैं, वे अपने लक्ष्यतक नहीं पहुँच सकते। साधनमें तो नित्य नया उत्साह और व्याकुलता बढ़ती रहनी चाहिये। जिनको अपना लक्ष्य प्राप्त हो गया है, जो सब प्रकारसे पूर्ण हैं, उनके लिये तो कुछ कहना नहीं बनता। वे तो पूज्य हैं। भगवान्‌के ही सदृश या भगवान्‌के भी भगवान् हैं, परंतु जबतक साधक और साधनका प्रसंग है, तबतक साधकके जीवनमें कभी किसी भी अवस्थाको लेकर संतोष नहीं होना चाहिये। उसके हृदयमें तो प्रतिदिन उत्तरोत्तर नित्य नया उत्साह, नित्य नयी व्याकुलता बढ़ती रहनी चाहिये।

किसी भी साधनाकी सफलता उसके आगेकी नवीन साधनाको उत्पन्न कर देती है। जबतक कुछ भी करना शेष है, तबतक साधनमें संतोष आ जाना साधनमें शिथिलता उत्पन्न करता है, जो वास्तवमें असावधानी है। ज्यों-ज्यों साधक साधनसे अभिन्न होता जाता है, त्यों-त्यों साध्यके लिये परम व्याकुलता तथा उत्साह बढ़ता रहता है। इसीमें साधनकी सफलता है।

(२२)

यदि कोई कहे कि उत्साह और व्याकुलता दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं? तो कहना होगा कि जिसके पानेकी तीव्र

अभिलाषा होती है उसके मिलनेमें ज्यों-ज्यों देर होती है, त्यों-ही-त्यों व्याकुलता बढ़ती है और उसके पानेकी आशा रहती है इस कारण उत्साह बढ़ता रहता है। जैसे किसीको किसी महात्मासे मिलनेके लिये या किसी देवविग्रहका दर्शन करनेके लिये किसी निश्चित स्थानपर जाना है। वहाँ जानेके लिये जिसकी तीव्र अभिलाषा है और किसी विघ्नके कारण जानेमें विलम्ब हो रहा है, उस समय उस बिलम्बके कारण तो उसकी व्याकुलता बढ़ती रहती है और वहाँ जानेसे अभिलाषा पूर्ण होनेकी उमंगमें उत्साह बढ़ता रहता है। अतः वह सब प्रकारकी कठिनाइयोंका सामना करता हुआ भी अपने अभीष्टकी ओर चल पड़ता है। उत्साहके कारण उसे चलनेका परिश्रम और कठिनाई दुःखप्रद नहीं होते, किंतु अपने अभीष्टकी प्राप्तिमें देर असह्य होनेके कारण व्याकुलता बढ़ती रहती है। इसी प्रकार साधकके जीवनमें भी उत्साह और व्याकुलताका बढ़ते रहना परम आवश्यक है।

जबतक मनुष्य वासनाओंकी पूर्तिके सुखमें रस लेता है, अपने मनकी बात पूरी होनेमें ही जो संतुष्ट हो जाता है या जो आलस्य और निद्रा आदि जडतामें रस लेता रहता है, उसके जीवनमें प्रेमकी लालसा जाग्रत नहीं होती। इसी कारण उसका न तो साधनमें उत्साह होता है, न लक्ष्य-प्राप्तिके लिये व्याकुलता आती है और न तत्परता ही होती है।

देखा जाता है कि जबतक साथियोंका मन एक नहीं होता, उनमें भेद रहता है, तबतक वे छोटे-से-छोटा काम भी पूरा नहीं कर पाते और आपसमें मतभेदका द्वन्द्व बना रहता है; किंतु जहाँ मनकी एकता होती है, वहाँ कठिन-से-कठिन काम भी सुगमतासे पूरा हो जाता है।

जहाँ साथियोंके और साधकके विचारोंमें भेद हो, वहाँ साधकको चाहिये कि जो प्रवृत्ति विवेकके प्रतिकूल न हो, उसके लिये अपने साथियोंके मनमें अपना मन मिलाकर एकता कर ले। दूसरोंके अधिकारकी रक्षाके लिये अपने मनकी बात पूरी करनेका आग्रह

हर्षपूर्वक त्याग दे और यदि उनके मनकी बात विवेक विरुद्ध हो तो बिना किसी द्वेषभावके उनका साथ छोड़ दे। त्यागका फल सबसे अधिक त्याग करनेवालेको मिलता है। अतः साधकको सब प्रकारकी चाहका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। त्यागसे ही सदा रहनेवाली शान्ति मिलती है।

साधककी प्रवृत्ति तो दूसरोंके हितमें होनी चाहिये और निवृत्तिकालमें उसको सबसे असंग होना चाहिये।

जगत् और शरीरका सम्बन्ध कर्मसे है। इनका चिन्तन करना व्यर्थ है। इनके चिन्तनसे कोई लाभ नहीं होता।

आत्मा और परमात्माका सम्बन्ध चिन्तनसे है। इसमें कर्मकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि जो वस्तु चिन्तनसे मिलती है, वह कर्मसे नहीं मिलती और जो कर्मसे मिलती है, वह चिन्तनसे नहीं मिलती।

बुद्धिको विवादमें न लगाकर सत्यकी खोजमें लगाना चाहिये। बलको उपभोगमें न लगाकर दूसरोंका दुःख मिटानेमें लगाना चाहिये। समयको व्यर्थ चिन्तनमें न लगाकर सार्थक चिन्तनमें लगाना चाहिये। संयोगजनित सुखकी प्राप्ति मन चाहता है। विवेकको वह प्रिय नहीं है। वस्तु, अवस्था और परिस्थितिके सम्बन्धसे होनेवाला सुख वास्तवमें सुख नहीं है। उसका जन्म दुःखसे होता है और अन्त भी दुःखमें ही होता है। जब प्यासका दुःख होता है तभी जल पीनेमें सुख मालूम होता है। भूख का दुःख ही भोजनमें सुख देता है। इसी प्रकार सुखके वियोगमें भी दुःख ही बच रहता है।

(२३)

साधकको चाहिये कि चित्त-शुद्धिके लिये अपनी योग्यता और रुचिके अनुरूप ऐसे साधनको अपनावे जो किसी दूसरेपर अवलम्बित न हो अर्थात् जिसमें अपनेसे भिन्न किसी व्यक्ति, पदार्थ, स्थान या परिस्थितिके सहयोगकी आवश्यकता न हो और जो सर्वथा स्वतन्त्र हो।

वेदान्तमें जो विवेक, वैराग्य, शमदमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता-

-ये चार साधन बताये हैं, उनमें भी साधक सर्वथा स्वतन्त्र नहीं होता; क्योंकि इन्द्रियोंको वशमें करना, मनको वशमें करना, शीतोष्णको सहन करना आदि साधनोंके लिये शरीरमें बल चाहिये।

इसी प्रकार तप करनेमें, दान देनेमें, तीर्थ-सेवन करनेमें, एकान्त वास करनेमें अथवा किसी प्रकारकी परिस्थितिको बनाये रखनेमें भी मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है।

जबतक साधक यह सोचता रहता है कि जब अमुक तीर्थमें जाऊँगा तब साधन करूँगा, ऐसा वातावरण मिलेगा तब साधन करूँगा, शरीर स्वस्थ होगा तब साधन करूँगा, इत्यादि, तबतक जीवनका अमूल्य समय यों ही चला जाता है, साधनमें प्रवृत्ति नहीं होती।

जो साधक अपने साधनमें दूसरेके सहयोग की आशा रखता है या उनकी सहायता लेता रहता है, उसका उन व्यक्तियोंमें मोह और पदार्थोंमें आसक्ति हो जाती है, अतः चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।

विश्वास, त्याग, प्रेम और कर्त्तव्य-पालन—इन साधनोंमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। किसी भी व्यक्ति या वस्तुका संयोग करना मनुष्यके हाथकी बात नहीं है, परंतु त्यागमें कठिनाई नहीं है। इसी प्रकार विश्वासके लिये भी किसीके सहयोगकी जरूरत नहीं है। जब चाहे अपने इष्टपर मनुष्य विश्वास कर सकता है। प्रेममें भी परतन्त्रता नहीं है। हरेक प्राणी प्रेम करनेमें स्वतन्त्र है। एवं अपना कर्त्तव्य-पालन करनेमें भी किसी प्रकारकी परतन्त्रता नहीं है; क्योंकि प्राप्त विवेकका आदर और प्राप्त बलका सदुपयोग ही उसका कर्त्तव्य है, जो हर मनुष्य हरेक परिस्थितिमें कर सकता है। संसार और शरीरसे विमुख होकर अपने आपको प्रभुके समर्पण करके उनपर निर्भर रहनेमें, उनकी अहैतुकी कृपाके आश्रित हो जानेमें किसी प्रकारकी भी कठिनाई नहीं है। अतः यह साधन अत्यन्त सुगम और अमोघ है।

जो मनुष्य दूसरोंकी उदारतासे, उनके त्याग, परिश्रम एवं कर्त्तव्यपरायणतासे अपने अधिकारको सुरक्षित रखता है, अपने मनकी

बात पूरी करता रहता है तथा अपने मनकी बात पूरी न होनेपर उनके कामोंमें दोष निकालता है और उनपर क्रोध करता रहता है, उसका चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। हाँ, जो लोग उसका आदर करते हैं, उसके अधिकारकी रक्षाके लिये अपने कर्त्तव्यका पालन करते हैं, क्रोध करनेपर भी नाराज नहीं होते, प्रत्युत् अपने ही दोषका अनुभव करते हैं एवं अपना कोई अधिकार नहीं मानते, उनका चित्त अवश्य शुद्ध हो सकता है, उनका व्यवहार अवश्य साधन माना जा सकता है; परंतु यदि वे भी वही काम किसी सांसारिक सुखके लालचसे या किसी प्रकारके भयसे करते हैं, चित्तशुद्धिद्वारा अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके उद्देश्यसे नहीं करते तो उनका भी चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।

अतः साधकको चाहिये कि साधनके लिये किसी भी व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति और स्थान आदिकी आशा न करे। जब जो परिस्थिति अपने-आप प्राप्त होती रहे--उसे प्रभुका विधान, उनकी अहैतुकी कृपा मानकर साधनपरायण हो जाय और उस प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करता रहे। अर्थात् किसीपर अपना अधिकार न माने और दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करता रहे तथा अपने शरीर और प्राप्त पदार्थोंद्वारा ऐसी सेवा, जिसमें उनका हित और प्रसन्नता निहित हो, करता रहे और किसी प्रकारके अभिमानको स्थान न दे।

(२४)

पहले यह बात कही गयी थी कि जबतक साधक स्वतन्त्र और सुलभ साधनको नहीं अपनाता, साध्यकी प्राप्तिके लिये दूसरोंपर निर्भर रहता है, तबतक उसका चित्त शुद्ध नहीं होता।

यहाँ दूसरोंसे अभिप्राय ईश्वरसे या अपने आपसे और कर्त्तव्यसे नहीं है; क्योंकि ईश्वरसे साधकका भेद नहीं है। उससे तो साधकका नित्य सम्बन्ध है। जिनसे स्वरूप या जातिका नित्य सम्बन्ध नहीं है, माना हुआ सम्बन्ध है, वे ही दूसरे हैं।

जब मनुष्य दूसरोंके कर्त्तव्यपर निर्भर होकर उनको साधनमें सहायक मानता है, तब उनके अनुकूल व्यवहारसे तो उनमें आसक्ति

हो जाती है और प्रतिकूल व्यवहारसे क्रोध हो आता है। ये दोनों ही चित्तकी अशुद्धिके मुख्य कारण हैं।

विचार करनेपर मालूम होता है कि साधन करनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। जो परिस्थिति और योग्यता उसे वर्तमानमें प्राप्त है, उसीमें वह साधन कर सकता है; क्योंकि प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग ही साधन है और उसकी सफलता भी निश्चित है। इसपर भी साधनमें प्रवृत्ति और रुचि नहीं होती, जो काम करना ठीक समझते हैं उसे नहीं कर पाते। यही सबसे बड़ा आश्चर्य है। प्राप्त विवेकके द्वारा साधकको खोज करनी चाहिये कि वास्तवमें इसका कारण क्या है? विचार करनेपर मालूम होगा कि प्रायः जो अपनेको साधक मानते हैं और साधनके उद्देश्यसे घरबार और कुटुम्बसे सम्बन्ध छोड़कर अलग रहते हैं, वे भी अपने साथियोंसे एवं जिससे किसी प्रकारका सम्पर्क है, उनसे किसी-न-किसी प्रकारकी आशा रखते हैं। उनके कर्त्तव्यसे अपने मनकी बात पूरी करना चाहते हैं। अपने अधिकारका त्याग करना और भगवान्‌के नाते दूसरोंके मनकी बात पूरी करना, अपना कर्त्तव्य नहीं समझते। इसलिये उनका चित्त शुद्ध नहीं होता।

दूसरा कारण यह भी मालूम होगा कि जो काम करते हैं, उसे जिस प्रकार करना चाहिये, ठीक उस प्रकार पूरा नहीं करते। जिस किसी प्रकारसे उसे समाप्त कर देना चाहते हैं। अतः उसके संकल्प दूसरे समयमें उठते रहते हैं, उसका चिन्तन नहीं छूटता।

इसलिये साधकको चाहिये कि जिस समय जो काम करे, उसे भगवान्‌का काम समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये उत्साहपूर्वक उसमें पूरा मन लगाकर उसे सुचारुरूपसे पूरा कर दे ताकि कामसे अलग होते ही मन संकल्परहित हो जाय। या अपने प्रेमास्पदके चिन्तनमें लग जाय और हृदयमें उनके प्रेमरसका अनुभव होने लगे।

जिस प्रकार एक सती स्त्री हरेक काम अपने पतिकी प्रसन्नताके लिये सुचारुरूपसे करती है, उसमें गलती नहीं करती और जिस प्रकार वह पतिके मनमें अपना मन मिला देती है। अपना कोई आग्रह

न रखकर पति जो चाहता है वही करती है और पतिकी प्रसन्नताके लिये पतिके मित्र, सम्बन्धी, पिता-माता, भाई-बहिन आदिकी सेवा भी बड़े प्रेम और उत्साहके साथ कुशलतापूर्वक करती है। उसमें किसी प्रकारकी असावधानी, अवहेलना या आलस्य नहीं करती। जिस प्रकार एक श्रेष्ठ शिष्य अपने गुरुकी प्रसन्नताके लिये, एक श्रेष्ठ पुत्र अपने माता-पिताकी प्रसन्नताके लिये, एक पिता अपनी संतानकी प्रसन्नताके लिये, अपने स्वार्थका त्याग करता है। अपने मनकी बात छोड़कर उनके अनुकूल व्यवहार करता है। वैसे ही साधकको भी अपने प्रभुकी प्रसन्नताके लिये अपने मनकी बात छोड़कर सबके साथ उनके अनुकूल व्यवहार करना चाहिये।

जो स्त्री अपने सुखके लिये पतिकी सेवा करती है। अपने पतिसे अपने मनकी बात पूरी कराना चाहती है और जो पति अपने मन्की बात स्त्रीसे पूरी कराना चाहता है। अपने सुख-भोगके लिये स्त्रीका पालन-पोषण करता है, उनका आपसमें संघर्ष बना रहता है, उनमें प्रेम नहीं होता और वे एक दूसरेको छोड़ भी नहीं सकते। इसी प्रकार गुरु और शिष्य, पिता और पुत्र, मित्र और मित्र, सेवक और स्वामी इन सबके सम्बन्धमें समझ लेना चाहिये।

जो साधक भगवान्की भक्ति, उनका भजन-स्मरण अपने सुख-प्राप्तिकी इच्छासे करता है, भगवान्से कुछ लेना चाहता है और जिसको उनके प्रेमकी अभिलाषा नहीं है, उसका चित्त भी सर्वथा शुद्ध नहीं होता और वह भगवान्का प्रेमपात्र नहीं बन सकता।

इसलिए साधकको चाहिये कि दिन-रातके चौबीस घंटे एवं साधनके आरम्भसे मृत्युपर्यन्त जो कुछ करे, प्रभुकी प्रसन्नताके लिये करे, उनके प्रेमकी लालसाके अतिरिक्त किसी प्रकारकी चाह न करे। अपने सारे जीवनको साधन बना ले। भजन-स्मरण, खाना-पीना, व्यवहार-व्यापार और अतिथि-सत्कार-सेवा आदिमें कोई प्रीतिका भेद न रहे।

आजकल लोग अपने सम्पर्कवालोंके कर्त्तव्यसे अपने अधिकारकी रक्षा और अपनी चाहकी पूर्ति चाहते हैं। हरेक मनुष्य दूसरेके कर्त्तव्य

और अपने अधिकारकी ओर देखता है, अपने कर्त्तव्यकी ओर नहीं देखता। इस कारण न तो धर्म-पालन होता है और न आपसमें प्रेम ही सुरक्षित रहता है। गुरु शिष्यको उसके कर्त्तव्यकी त्रुटि दिखाता है। साधु गृहस्थको उसके कर्त्तव्यकी बात बताता है और अपने मनके थोड़ा-सा भी प्रतिकूल होनेपर क्रोध करने लगता है। गृहस्थ देखता है, यह कैसा साधु है। क्या साधुको भी कभी क्रोध आना चाहिये? इसी प्रकार एक दूसरेके दोषोंको देखते रहते हैं। तब उनका अन्तःकरण शुद्ध कैसे हो?

इस प्रकारके व्यवहारमें जब पिता पुत्रसे कहता है कि 'तू अमुक काम हमारे मनके अनुकूल नहीं करता, तू बड़ा नालायक है।' तो पुत्र यदि सामने नहीं कहता तो उसके मनमें तो यह भाव आ ही जाता है कि 'भूल तो इनकी है और मुझे नालायक बताते हैं।' अतः यदि किसीको हितकी बात बतानी हो, तो भी बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि पहले उसमें प्यार और विश्वास उत्पन्न करे। जब उसे यह विश्वास हो जायगा कि ये मेरा सब प्रकारसे हित चाहते हैं, इनका कोई स्वार्थ नहीं है, तभी वह उनकी बात मानकर उसके अनुसार चलनेका प्रयत्न करेगा।

चित्तशुद्धिके लिये व्यवहारमें समता भी होनी चाहिये। विषमताके व्यवहारसे चित्त अशुद्ध हो जाता है। इससे मनुष्यकी साधनमें रुचि नहीं होती।

आजकल देखा जाता है कि लोग अपने साथियोंमें और जिनके साथ समयपर सम्पर्क होता है, उनमें व्यवहारका बहुत भेद रखते हैं। पिता जिस प्रकार अपने पुत्रसे प्रेम करता है--वैसा भाईके पुत्रसे या पड़ोसीके पुत्र से नहीं करता। स्त्री अपने पतिको जैसा भोजन देती है, अपने देवर-जेठको वैसा नहीं देती। जैसे अपने पुत्रको देती है, वैसे देवर-जेठके पुत्रोंको नहीं देती। औरकी तो कौन कहे, अपने ही शरीरसे उत्पन्न पुत्र और पुत्रीमें भी भेद रखती है। समझती है कि पुत्र तो अपने घरमें रहेगा। कमाकर हमारा पालन-पोषण करेगा। लड़की तो अपने घरकी होगी। हमें तो उल्टा देना-ही-देना रहेगा।

इसी प्रकार अपने सगे-सम्बन्धी, जान-पहचानके व्यक्तियोंमें और अपरिचित आगन्तुक व्यक्तिके साथ भी व्यवहारमें भेद होता है। उपर्युक्त भेद केवल कर्ममें हो या आवश्यकताके भेदसे हो, या जिसका सत्कार करना है, उसकी रुचिके भेदसे वस्तुका भेद हो तो कोई हानि नहीं है। वह तो होंना ही चाहिये; परंतु प्रेमका भेद नहीं होना चाहिये। प्रीतिकी एकता होनी चाहिये। पर होता बिल्कुल इसके विपरीत है। किसी समय किसी कारणसे वस्तुमें भेद न होकर भी प्रीतिमें भेद हो जाता है। इससे न तो चित्त शुद्ध होता है, न प्रेम बढ़ता है, न आपसमें एकता आती है और न शान्ति ही मिलती है।

अतः साधकको चाहिये कि जिसके साथ व्यवहार करे, उसे ईश्वरका स्वरूप माने अर्थात् यह समझे कि स्वयं भगवान् ही कृपा करके मेरी सेवा स्वीकार करनेके लिये इस वेषमें आये हैं। अथवा यह समझे कि सर्वव्यापी भगवान् इसमें विद्यमान हैं, अतः इसकी सेवा उन्हींकी सेवा है। यह भी न हो सके तो कम-से-कम यह तो समझे कि जो समस्त जगत्के कर्ता, संहर्ता और स्वामी हैं, यह भी उन्हींका है। अतः इसके आदर, सत्कार एवं सेवासे भगवान् प्रसन्न होंगे। मुझे उनका प्रेम प्राप्त होगा। इस भावको लेकर प्रेम और उत्साह पूर्वक उसकी हरेक विवेक सम्मत आवश्यकताकी पूर्ति करे तथा सब कुछ भगवान्का है, उन्हींकी वस्तु उन्हींके काममें लग रही है, इस भावनासे अपने मनमें किसी प्रकारका अभिमान न आने दे। इस प्रकार व्यवहार करनेवाले साधकका चित्त शुद्ध हो जाता है। उसको किसी प्रकारकी भोगवासना नहीं रहती। निःस्वार्थ प्रेम ही वास्तवमें भक्ति है और सब वासनाओंसे रहित होना ही मुक्ति है। अतः भक्ति चाहनेवाले साधकोंमें प्राणिमात्रके प्रति अगाध प्रेम रहना चाहिये और मुक्ति चाहनेवाले साधकोंमें सब प्रकारकी वासनाओंका अभाव होना चाहिये।

(२५)

यह पहले कहा गया था कि चित्तशुद्धिके लिये माने हुए सम्बन्धका त्याग करना अनिवार्य है।

साधकको चाहिये कि शरीर और संसारके साथ जो माना हुआ सम्बन्ध है, उसको तोड़कर अपने प्रभुपर विश्वास करके उनके साथ सम्बन्ध जोड़े, उनके सिवा और किसीको अपना न माने।

उनको अपना माननेमें और उनसे प्रेम करनेमें साधक सदैव स्वतन्त्र है। हाँ, भगवान् उसको अपना मानें या न मानें, उसे अपना प्रेम प्रदान करें या ठुकरा दें, यह उनके हाथकी बात है। इसमें साधकके वशकी बात नहीं है, परंतु उनके ठुकरानेपर भी उनको अपना मानना, उनसे प्रेम करना और उन्हींपर निर्भर रहना--इसमें तो साधक किसी प्रकार भी पराधीन नहीं है। क्या गोपियोंको भगवान्‌ने नहीं ठुकराया, परंतु इतनेपर भी क्या वे कभी उनसे विमुख हुईं? क्या उनको अपना मानना और प्रेम करना छोड़ दिया? नहीं, वे चाहे ठुकरायें और चाहे प्रेम करें--प्रत्येक अवस्थामें उन गोपियोंको तो वे अपने ही दीखते थे। यही कारण था कि भगवान् अलग रहते हुए भी उनके पास ही थे। भगवान् श्यामसुन्दर भी उनके प्रेममें इतने मुग्ध थे कि उनका स्पर्श पाकर आये हुए पुष्पको देखकर प्रेममें विभोर हो जाते, उनके चरणकी रज हवामें उड़कर शरीरपर पड़ती तो अपनेको धन्य मानते।

कोई कहे कि भगवान्‌को तो हमने कभी देखा नहीं, हम कैसे उनको अपना मान लें और कैसे उनसे प्रेम करें तो इसका उत्तर यह है कि जिस संसार और शरीरको तुम देख रहे हो, इससे सम्बन्धका त्याग करनेमें तो तुम स्वतन्त्र हो। यह सम्बन्ध तो तुम्हारा ही बनाया हुआ है। अतः इससे सम्बन्ध तोड़कर सर्वथा विमुख हो जाओ। यदि यह तुम्हारे पीछे-पीछे दौड़े तो भी तुम इसकी ओर दृष्टिपात मत करो। जब तुम्हारा इससे सम्बन्ध नहीं रहेगा, तब भगवान्‌से सम्बन्ध अपने-आप हो जायगा। इसको पीठ देते ही तुम भगवान्‌के सम्मुख हो जाओगे, सम्मुख होते ही तुम्हारे अनन्त जन्मोंके पापोंका नाश होकर तुम्हारा चित्त उसी क्षण शुद्ध हो जायगा और भगवान् तुमको अपना लेंगे। तब तुम भगवान्‌को देख लोगे।

कोई कहे कि 'पहले हमको भगवान्‌का प्रेम प्राप्त हो जाय तब

हम इस जगत्से सम्बन्ध छोड़ दें' तो ऐसा नहीं होता। यदि कोई अपना मुख गिलोयसे भर ले और कहे कि मिसरीका मिठास प्राप्त होनेपर गिलोयका त्याग करूँगा। यह जैसे सम्भव नहीं, इसी प्रकार जबतक साधक संसारको पीठ देकर भगवान्के सम्मुख नहीं होता, तबतक उनका प्रेम प्राप्त होना सम्भव नहीं है। उनसे सम्बन्ध-जोड़नेके लिये अर्थात् जिनसे साधकका नित्य सम्बन्ध है और जिनको वह अपने ही प्रमादसे भूल गया है, उस भूलको मिटानेके लिये अपने माने हुए सम्बन्धको पहले मिटाना होगा।

शरीर और संसारसे सम्बन्ध टूटते ही निर्वासना और असंगता प्राप्त हो जायगी, रागका सर्वथा अभाव हो जायगा। निर्वासनासे योग, असंगतासे बोध और समर्पणसे अनुराग अपने-आप प्राप्त हो जाता है। यह नियम है।

जगत्से सम्बन्ध तोड़नेसे मुक्ति और भगवान्से सम्बन्ध जोड़ लेनेपर भक्ति स्वतः हो जाती है।

(२६)

जबतक साधकको अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें किसी प्रकारकी उलझन या कठिनाई मालूम हो, तबतक समझना चाहिये कि चित्तमें किसी-न-किसी प्रकारकी अशुद्धि है।

जबतक मनुष्य पराधीन रहता है, अपनी कामनाकी पूर्ति दूसरोंसे चाहता है, जबतक उसका चित्त शुद्ध नहीं हो पाता।

संतोंका कहना है कि जब मनुष्य आजाद (स्वाधीन) हो जाता है, तब खूँखार शेर उसे गोदमें ले लेता है; वृक्ष उसे फल देने लगते हैं। भाव यह कि चाहरहित मनुष्यको सब वस्तुएँ अनायास अपने-आप प्राप्त होती हैं।

साधक को चाहिये कि या तो सभीको अपना समझे या किसीको अपना न समझे। ये दोनों ही साधन हैं। सबको अपना समझनेवाला सबसे समान प्रेम करता है। प्रेममें देना-ही-देना रहता है। किसीसे कुछ लेनेकी भावना नहीं रहती। अतः सब प्रकारसे

प्राप्त-शक्तिके द्वारा सबका हित करना, उस शक्तिको उनके हितमें लगा देना और बदलेमें उनसे कुछ लेना नहीं, यही सबको अपना समझना है। एवं सबसे असंग हो जाना ही अपना न समझना है। जो दूसरोंसे कुछ लेनेके लिये उनको अपना समझता है, वह कभी गुलामीसे नहीं छूटता। जिस-जिस भोगको वह चाहता है, उस-उसका गुलाम बन जाता है, अतः स्वाधीन नहीं हो पाता और उसका चित्त अशुद्ध होता रहता है।

चित्तकी शुद्धिके लिये क्षमाकी बड़ी भारी आवश्यकता है। अतः साधक को क्षमाशील होना चाहिये। जब कभी उसे मालूम हो कि मेरे कारणसे किसीको कष्ट हुआ है, मुझसे किसीके प्रतिकूल व्यवहार हो गया है, तो तुरंत उससे क्षमा माँग ले। यदि अपनी गलतीका भास कालान्तरमें हो तो मनसे क्षमा माँग ले और पुनः वैसी गलती न करनेका दृढ़ संकल्प कर ले। इससे साधकमें निर्दोषता आती है।

यदि किसी दूसरेका व्यवहार अपने प्रतिकूल हो तो तत्काल ही उसे क्षमा कर दे। अपने मनमें यह भाव ही न रहने दे कि उसने कोई अपराध किया है, ताकि उससे बदला लेनेकी भावना कभी भी उत्पन्न न हो। यह भाव रक्खे कि सरकारसे या ईश्वरसे भी उसको किसी प्रकारका दण्ड न मिले, बल्कि ईश्वरसे यह प्रार्थना करे कि इसकी बुद्धि शुद्ध कर दीजिये ताकि यह अन्य किसीके साथ बुरा व्यवहार न करे। इससे साधकमें वैर-भाव मिट जाता है।

जो स्वयं दुखी होता है, वही दूसरोंको दुःख देता है। जिसके पास जो वस्तु होगी वही तो देगा। जिसके पास दुःख है ही नहीं, वह कहाँसे देगा। दुखी प्राणी हर प्रकारसे दयाका पात्र होता है। अतः क्षमाशील साधक कभी किसीपर क्रोध या द्वेष-भाव नहीं करता। उसे तो किसीका अपराध दीखता ही नहीं। वह तो दुःखका हेतु अपनी बेसमझीको मानता है।

जो क्षमाशील साधक अपनी गलतीके लिये दूसरोंसे क्षमा माँगकर और पुनः गलती न करनेका संकल्प करके निर्दोष हो जाता है तथा अपने प्रति जो प्रतिकूल व्यवहार करता है, उसका दोष न

मानकर वैर-भावसे रहित हो जाता है, उसका चित्त शुद्ध हो जाता है।

आजकल जब किसीके मनके, विपरीत काम होता है, तब उसको क्रोध आ जाता है। यदि कोई कहे कि क्रोध नहीं करना चाहिये तो कहते हैं कि 'क्रोध किसको नहीं आता? क्या मैं महात्मा हो गया? मै तो गृहस्थ हूँ...........'इत्यादि। यदि उनसे पूछा जाय कि 'आप महात्मा क्यों नहीं बन गये? किसने मना किया था? मनुष्य ही तो महात्मा होते हैं?' तो इसका कोई उत्तर नहीं है। ऐसे प्राणियोंका चित्त शुद्ध नहीं हो पाता।

जो मनुष्य भगवान्‌की प्रकृतिको अपनी मानकर उससे भोगवासनाकी पूर्ति चाहता है, उसके साथ प्रकृति उदारताका व्यवहार नहीं करती। उसको तो वह उसके कर्मानुसार न्यायोचित फल देती है। उसपर प्रसन्न नहीं होती, बल्कि क्रोध करती है। जैसे किसी सती स्त्रीको कोई अपनी समझकर उससे भोगकी चाह करे तो वह क्या करेगी? क्या उसको शाप नहीं देगी? इसी प्रकार ही प्रकृतिके बारेमें समझ लेना चाहिये। परंतु जो प्रकृतिको अपने प्रभुकी समझता है, उससे किसी प्रकारका भी भोग नहीं चाहता, उसपर प्रकृति-माता प्रसन्न होकर जैसे कोई माता अपने पुत्रका पालन करती है, उसी प्रकार उसका पालन-पोषण करती रहती है। यही कारण है कि चाहरहित साधकको कभी अभावका भास नहीं होता।

किसीको यह कभी नहीं समझना चाहिये कि पतनका कारण प्रारब्ध है; क्योंकि प्रारब्ध किसीके पतनका कारण नहीं होता। विवेकका अनादर करनेसे और प्राप्त बलका दुरुपयोग करनेसे ही मनुष्यका पतन होता है।

जो मनुष्य अपने दोषकी ओर ध्यान न देकर दूसरोंको दोषी मानता है और इस खयालसे कि 'यहाँ मेरा आदर नहीं है, मेरे साथ लोग व्यवहार ठीक नहीं करते,'-एक जगह छोड़कर दूसरी जगह जाता है, उसको वहाँ भी आदर नहीं मिलता; क्योंकि दूसरोंसे सुख चाहनेवाले मनुष्यका कोई भी आदर नहीं करता। जैसे कोई बेवकूफ

हो और सभी लोग उसे बेवकूफ कहने लगें एवं उस अपमानसे बचनेके लिये वह कहीं अपरिचित स्थानमें चला जाय, वहाँ जाकर कहीं जमीनके खड्डेमें बैठकर भोजन करे और इस खयालसे इधर-उधर देखता रहे कि कोई दूसरा देख न ले, कोई मुझे बेवकूफ न समझ ले। इस परिस्थितिमें उसे देखनेवाले उससे कहें कि 'अरे बेवकूफ ! यहाँ क्या कर रहा है?' तो वह क्या समझेगा? वह मनमें यही समझेगा कि यहाँ भी लोगोंने मुझे पहचान लिया। कहनेका भाव यह है कि जब तक उसमें बेवकूफी बनी रहेगी, वह कहीं भी किसीसे छिपी नहीं रहेगी। इसी प्रकार जबतक मनुष्य अपने दोष को स्वयं नहीं मिटा लेगा, तबतक कहीं भी उसे सुख और शान्ति नहीं मिलेगी।

इसलिये साधकको चाहिये कि जब जहाँ जो परिस्थिति प्राप्त है, उसका सदुपयोग करे। ऐसा करनेसे उसकी उन्नति का मार्ग अपने आप खुल जाता है और उसकी उन्नतिके लिये जब जैसी परिस्थिति आवश्यक होती है, अपने-आप अनायास प्राप्त हो जाती है। जब भगवान् उसका एकान्तवास आवश्यक समझते हैं, तब वैसी ही परिस्थिति पैदा कर देते हैं।

साधकके लिये सबसे अच्छा जीवन वही है जब हृदयमें निरन्तर प्रेमकी गंगा लहराती रहे। अहं-अभिमानसे सर्वथा शून्य हो, किसी प्रकारकी चाहका उदय न हो, शरीर विश्वके काम आता रहे तथा जीवन सब प्रकारसे पूर्ण और अनन्त हो।

जीवन बदल जाना साधकका दूसरा जन्म है। यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेपर जो 'द्विज' कहा जाता है, उसका यही भाव है कि वह उसका नया जन्म है अर्थात् उसे वेदके ज्ञानका अधिकार प्राप्त हो गया है। इसी प्रकार किसी प्रकार की दीक्षा देकर उसके अहंको बदल देना, गृहस्थसे वानप्रस्थ या संन्यास ग्रहण कर लेना भी दूसरा जन्म माना जाता है; क्योंकि उससे उसका अहं परिवर्तित होता है।

जब सब प्रकारके दोषोंका अभाव होकर चित्त शुद्ध हो जाय,

तब साधकको समझना चाहिये कि मैं अब पहलेवाला नहीं हूँ। मेरा यह दूसरा जन्म है। परंतु उसमें भी योगके, बोधके या प्रेमके अभिमानका भास नहीं होना चाहिये।

प्रेमी भक्त भगवान्‌से अपने उद्धारकी भी कामना नहीं करता। वह तो सर्वथा निष्काम रहता है।

(२७)

चित्तकी शुद्धिके प्रसंगमें क्षमा माँगने तथा करनेकी बात पहले कही गयी थी। अब यह कहना है कि मनुष्यको अपना दोष स्वीकार करनमें और क्षमा माँगनेमें संकोच क्यों होता है। विचार करनेसे मालूम होगा कि उसको दोषी बने रहनेमें उतना दुःख नहीं है जितना कि दोषी कहलानेमें है। वह चाहता है कि लोग मुझे अच्छा आदमी समझते रहें, मेरे दोष प्रकट न हों, छिपे रहें। इस भावनासे दोषोंका पोषण होता रहता है और अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता।

प्रायः देखा जाता है कि कोई हितचिन्तक मित्र, माता, पिता और गुरु भी किसीका कोई दोष बतलाते हैं तो स्वीकार करना तो दूर रहा, वह झुँझलाकर उसकी सफाई देने लग जाता है। अपने दोषको छिपानेके लिये अनेक प्रकारके नये दोष उत्पन्न कर लेता है। यहाँतक कह देता है कि 'जब अपनेपर आती है, तब मालूम पड़ता है। दूसरेको समझाना सहज है। यदि तुम मेरी स्थितिमें होते तो तुम भी ऐसा ही करते' इत्यादि। यही कारण है कि जो मनुष्य अनेक वर्षोंसे सत्संग करते हैं, वे भी आजतक अपने चित्तको शुद्ध नहीं बना सके।

अतः साधकको चाहिये कि अपने चित्तके दोषोंको देखकर दुखी हो और दोषी कहलानेसे न डरे एवं निर्दोष बननेकी कोशिश करे और निर्दोषताकी ख्यातिका रस न ले; क्योंकि निर्दोषताकी ख्यातिका रस मनुष्यका चित्त शुद्ध नहीं होने देता अर्थात् उसको निर्दोष नहीं बनने देता। अतः यदि कोई अपना दोष बतलाये तो क्षुब्ध न होकर उसे अपना हितैषी मानना चाहिये और उसकी बात

सुनकर सफाई देनेकी कोशिश न करके अपने दोषोंको सूक्ष्मदृष्टिसे देखना चाहिये तथा उनको मिटा देना चाहिये। दोषोंका मिटाना कठिन नहीं है; क्योंकि दोष प्राणीमें स्वाभाविक नहीं है, उसके प्रमादसे उत्पन्न हुए हैं।

जो लोग यह सोचते हैं कि 'दोष किसमें नहीं है, बड़े-बड़े लोगोंमें भी देखे जाते हैं।' इस प्रकार दूसरोंके दोषोंकी ओर देखनेवालेका चित्त शुद्ध नहीं होता; क्योंकि उसे अपने दोषोंके बने रहनेका दुःख नहीं होता और उनको हटानेके लिये प्रयत्न नहीं होता, बल्कि निराशा पैदा होती है।

अतः साधकको चाहिये कि उक्त प्रकारसे दूसरोंके दोषोंकी ओर देखकर संतोष न करे और अपने दोष मिटानेसे निरुत्साह न हो, बल्कि अपने दोषोंको गहराईसे देखे और उनके न मिटनेसे दुःखी हो। यही दोषोंको मिटानेका उपाय है। जो अपने दोषोंको देख-देखकर दुःखी होता है और उनको मिटानेके लिये साधन करता है, उसमें दोष नहीं रह सकते।

यदि दूसरे लोग बड़ाई करें, निर्दोष बतावें तो साधकको हृदयसे उसका विरोध करना चाहिये और बिना संकोचके अपने दोष लोगोंके सामने स्वीकार कर लेने चाहिये; साथ-ही भगवान्‌की अपार दयाका अनुभव करना चाहिये कि उनका कैसा मधुर स्वभाव है, जो मुझ-जैसे अधमको भी लोगोंकी दृष्टिमें सम्मानके योग्य बना देते हैं।

अपने दोषोंको जाननेके लिये मनुष्यको अपने चित्तकी दशाका अध्ययन करना चाहिये। यदि किसी लड़की या स्त्रीको देखकर उसकी सुन्दरतापर दृष्टि जाय, मनको वह प्रिय लगे तो समझना चाहिये कि मेरे मनमें अभीतक (चमड़ीके) सौन्दर्यका महत्त्व है। अतः मुझमें 'कामका दोष' विद्यमान है। यदि उसे देखकर किसी प्रकारका बुरा भाव उत्पन्न न हो तो भी सुन्दरताकी प्रियता भी तो कामका दोष ही है। इसी प्रकार किसी मकानको देखकर उसकी बनावटकी सुन्दरता का या उपयोगिताका महत्त्व मालूम हो तो समझना चाहिये कि मनमें अभी तक 'लोभका दोष' है। यदि सम्पत्तिशाली व्यक्तिको

देखकर सम्पत्तिका महत्त्व मालूम हो, किसी धनीके जीवनसे धनका महत्त्व मालूम हो तो समझना चाहिये कि अभीतक लोभका दोष है। यदि घरपर अतिथि आवें तथा उनका सत्कार करनेके लिये जो दूध, अन्न, फल या दूसरी वस्तुएँ खर्च हों, उनकी ओर मन आकर्षित हो तथा ऐसा भाव उठे कि आज इतनी मात्रामें अमुक-अमुक वस्तुएँ तो खर्च हो गयीं, अमुक बची है, यह व्यर्थ जायगी। इस प्रकार उन वस्तुओंका महत्त्व प्रतीत हो तो समझना चाहिये कि लोभका दोष है। जिसके मनमें लोभका दोष नहीं होगा, वह तो जितने अतिथियोंकी सेवाका अवसर मिलेगा, उतना ही सौभाग्य मानेगा। उसकी दृष्टि वस्तुओंकी ओर नहीं जायगी। जिस प्रकार धनका संग्रह करना लोभ है, उसी प्रकार उसके खर्चके रसका उपभोग भी लोभ ही है; क्योंकि उसके मनमें धनका महत्त्व वर्तमान रहता है। परिवारके लोगोंको अपने सुखका हेतु समझकर जो उनमें प्रियता है, यह 'मोहका दोष' है। इसी प्रकार अपने शरीरको हृष्ट-पुष्ट और नीरोग देखकर जो प्रसन्नता होती है यह भी मोह है। किसी स्वस्थ और बलवान् मनुष्यको देखकर अपने मनमें उसका महत्त्व मालूम हो तो समझना चाहिये कि अभीतक 'देहाभिमान दोष' है। यदि किसीकी कीर्ति सुनकर उसका महत्त्व मालूम हो तो समझना चाहिये कि 'बड़ाईकी वासनाका दोष' है; क्योंकि निरादरका भय और मानकी चाह--ये दोनों देहाभिमानसे होते हैं और लोकवासनासे बड़ाई प्रिय लगती है।

इस प्रकार अपने दोषोंका सूक्ष्मतासे निरीक्षण करके उनका त्याग करनेकी चेष्टा करनी चाहिये और कभी भी अपनेको निर्दोष मानकर अभिमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि अभिमान रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं होता।

किसी त्यागी महात्माको देखे तो उसके त्यागका महत्त्व मालूम होना चाहिये। गोपियोंके चरित्रसे उनके प्रेमका महत्त्व मालूम होना चाहिये। मीराको याद करके उसके विश्वासका महत्त्व मालूम होना चाहिये। सहजोबाईको याद करके उसके विवेकका महत्त्व मालूम होना चाहिये। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ दृष्टि जाय, वहाँ-वहाँ यदि

दूसरोंके सद्‌गुणोंका महत्त्व मालूम होकर उनकी ओर चित्तका आकर्षण हो तो समझना चाहिये कि चित्त शुद्ध हो रहा है।

साधकको यह निश्चय करना चाहिये कि मुझे वहाँ पहुँचना है जिसके आगे कोई रास्ता नहीं है। जो सबकी अन्तिम अवधि है, वह है परम सुहृद् प्रभुका अगाध प्रेम। रास्तेमें स्थिरता और शान्तिके विश्राम-स्थान मिलें तो वहाँ ठहरना नहीं है।

(२८)

पहले चित्त-शुद्धिके प्रसंगमें यह बात कही गयी थी कि साधकको अपने दोषोंका निरीक्षण करके दुःखी होना चाहिये। तब दोषोंका नाश होकर चित्त शुद्ध हो सकता है।

अब विचार यह करना है कि दोषोंके रहते हुए मनुष्यको उनके रहनेका दुःख क्यों नहीं होता? विचार करनेपर मालूम होगा कि मनुष्य उन दोषोंमें सुखभोगकी कल्पना करके रस लेता रहता है। इस कारण उनके रहनेका दुःख नहीं होता और उनको मिटानेकी लालसा और कोशिश नहीं होती।

मनुष्य भोगोंकी चाहकी पूर्तिको ही सुख मान लेता है और यही सबसे बड़ा दोष है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सब प्रकारके दोष भोग-वासनासे उत्पन्न और पुष्ट होते रहते हैं।

आजकलकी सभ्यता मनुष्यको यही सिखाती है कि अपने रहन-सहनकी उन्नति करो अर्थात् सुन्दर-सुन्दर भोगोंकी चाह उत्पन्न करो और उनकी पूर्तिके लिये श्रम करके नाना प्रकारकी भोग-सामग्रीका संग्रह करो एवं उनका उपभोग करके चाहकी पूर्तिका सुख भोगो और फिर चाह करो। इस प्रकार दुःख-सुखके चक्रमें पड़े रहना ही जिनकी दृष्टिमें उन्नति है, उनके हृदयमें अपने दोषोंको मिटानेका भाव कैसे प्रकट हो सकता है?

उनकी शिक्षाका दुरुपयोग करनेवाले आलसी मनुष्य तो भोग-सामग्री जुटानेके लिये परिश्रम करना भी नहीं चाहते। वे तो आशा करते हैं कि कोई दूसरा ही हमारे लिये सब आवश्यक सामग्री जुटा

दे और हम उसके भोगका सुख लेते रहें।

ऐसे मनुष्योंको अपनी वास्तविक आवश्यकताका ज्ञान नहीं होता; क्योंकि उनको इस बातका पता ही नहीं है कि इस जीवनसे उत्कृष्ट कोई दूसरा भी जीवन है; जहाँ किसी प्रकारका अभाव नहीं है, जहाँ मौतका भय नहीं है, जिसमें केवल रस-ही-रस है, दुःखका लेश भी नहीं है। यद्यपि सभी प्राणी चाहते हैं कि हमें दुःख न मिले, हम स्वाधीन और समर्थ हों, हमारा जीवन अमर हो जाय, मौतका भय न रहे, परंतु उस जीवनसे निराश हो गये हैं और वर्तमान जीवनको ही वास्तविक जीवन मान लिया है।

चाहकी पूर्तिको सुख माननेवालोंके मनमें धनकी कामना जाग्रत् होती है। उसके लिये वे वह काम करते हैं जो करना चाहिये और वह काम भी करते हैं जो नहीं करना चाहिये। एक सूतकी मिल चलानेवाला हजारों सूत कातनेवालियोंकी जीविका नष्ट करके स्वयं धनी होता है। एक तेल-कलका मालिक हजारों तेली गृहस्थोंका जीवन दुःखमय बनाकर स्वयं धनी होता है। एक आटा-कलका मालिक सैकड़ों विधवा और परिश्रमी स्त्रियोंको बेकार बना देता है। इससे देशकी कितनी हानि हो रही है, उस ओर उन स्वार्थी लोगोंका ध्यान ही नहीं जाता। वे लोग समाजको भी शुद्ध वस्तुओंके बदले खराब वस्तु देकर लोगोंका स्वास्थ्य बिगाड़ते हैं और उसमें देशकी उन्नति मानते हैं।

दूसरे समूहके लोग जो अपनेको विरक्त कहनेका दम भरते हैं, अपनेको भगवान्‌का भक्त कहते हैं, उनका जीवन भी मनुष्यको अपनी वास्तविक आवश्यकताकी पूर्तिकी ओर आकर्षित नहीं करता; क्योंकि उनमें भी अधिकांश लोग बड़े-बड़े मठ, बड़े-बड़े अधिकार और बहुत-सी सामग्रियोंका संग्रह करनेमें ही अपना जीवन सफल और उन्नत मानते हैं। अमुक स्वामीजीका आश्रम बड़ा सुन्दर है। वहाँ लोगोंको सब प्रकारका सुख मिलता है, उनके बड़े-बड़े धनी-मानी ऊँचे अफसर, मिनिस्टर लोग शिष्य हैं, उनका बड़ा सम्मान है, इस प्रकारकी बड़ाई सुन-सुनकर मस्त रहते हैं एवं व्यक्ति, वस्तु, अवस्था

और परिस्थितिके सम्बन्धसे चाहकी पूर्तिको ही सुख मानते हैं। उनके हृदयमें भी वास्तविक अवाश्यकताका अनुभव नहीं होता।

ऐसे लोग जब कहीं बाहर जाते हैं, तब अपने साथियोंको सोनेके लिये पूरी जगह मिले, चाहे न मिले; परंतु उनको कम-से-कम एक कमरा स्वतन्त्र चाहिये। उसके लिये फिर नाना प्रकारका दम्भ करते हैं। कहते हैं हमें एकान्त चाहिये। यदि सचमुच एकान्तकी जरूरत हो तो जंगलमें कमी नहीं है। किसी भी वृक्षके नीचे एकान्त मिल सकता है। टूटे-फूटे खंडहरों और जीर्ण मन्दिरोंकी भी कमी नहीं है। परंतु वहाँ आराम कैसे मिले। इस प्रकारका एकान्त उनको नहीं चाहिये।

इसी प्रकार तीर्थयात्रा आदिके बहानेसे जो अपना शौक पूरा करते हैं, नाना प्रकारके स्थानोंको, प्रकृतिके सौन्दर्यको और अनेक प्रकारके दृश्योंको देख-देखकर रस लेते रहते हैं, उनको भी तीर्थसेवनका असली फल नहीं मिलता अर्थात् उनका भी चित्त शुद्ध नहीं होता। तीर्थसेवनका अधिकारी वह होता है जो तीर्थस्थानोंमें दिव्य लोकान्तरोंका अनुभव करता है अर्थात् जिसकी तीर्थोंमें भौतिक बुद्धि नहीं है।

मनुष्यकी असली माँग है--ऐसा आनन्द, जिसमें दुःखका मिश्रण न हो; ऐसा जीवन, जिसमें मृत्युका भय न हो; ऐसा रस, जिसमें नीरसताकी गन्ध न हो और ऐसा ज्ञान, जिसमें किसी प्रकारका संदेह न हो।

इस माँगकी पूर्ति तभी हो सकती है जब साधक अपने प्राप्त विवेकका आदर करे, किसी भी वस्तु, व्यक्ति और परिस्थितिके सम्बन्धसे मिलनेवाले सुख-दुःखोंका रस न ले, अपने दोषोंको देखकर उनके होनेके दुःखसे दुःखी हो, जबतक चित्त शुद्ध न हो जाय, तबतक चैनसे न रहे।

देहाभिमानके रहते हुए चाहका अभाव नहीं होता। चाह रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। चित्त शुद्ध हुए बिना असली

आवश्यकताकी पूर्ति नहीं होती। अतः साधकको चाहिये कि देहाभिमानका त्याग करके चाहसे रहित हो जाय। यही चित्तशुद्धिका उपाय है। चित्त शुद्ध होनेपर स्वतः ही योग, बोध और प्रेमकी प्राप्ति होती है।

(२६)

प्राप्त योग्यता और शक्तिसे अधिकके लिये चेष्टा करनेसे और उस (योग्यता और शक्ति को) पूर्णतया न लगानेसे भी मनुष्यका चित्त शुद्ध नहीं होता। जिसके पास धन नहीं हो और वह यदि दान दे, ब्राह्मण और साधुओंको खिलावे तो उसका चित्त शुद्ध नहीं होता; क्योंकि जो दानी कहलानेके लिये या अपनी इज्जत बनाये रखनेके लिये दान किया जाता है, उससे अभिमान पुष्ट होता है। इसी प्रकार जो तप तपस्वी कहलानेके लिये, जो योग योगी कहलानेके लिये, जो त्याग त्यागी कहलानेके लिये और जो संयम संयमी कहलानेके लिये किया जाता है, उससे दम्भ और अहंभाव बढ़ता है, अतः उससे चित्त शुद्ध नहीं होता।

प्रायः देखा जाता है कि जिसके पास धन नहीं है, वह बाहरसे अपने शरीरको जितना सजाता है, धनी आदमी उतना नहीं सजाता; क्योंकि जो योग्यता जिसमें सचमुच होती है, उसे उसका प्रदर्शन करनेका शौक नहीं होता; वह तो उसका स्वभाव बन जाता है। अतः उसके मनमें उसकी कोई विशेषता नहीं होती।

जो साधु या प्रचारक अपने अनुयायियोंसे उनकी सामर्थ्यसे अधिक खर्च करवाता है, वह उनको बेईमानी करनेके लिये प्रोत्साहन देता है तथा जो मनुष्य इज्जत बढ़ानेके लिये सामर्थ्यसे अधिक खर्च करता है, वह बेईमानी करनेकी तैयारी करता है।

हैसियतसे अधिक खर्च करनेवाला सदा धनके लोभसे अशान्त रहता है। उसको इज्जतका भय बना रहता है। अतः उसके चित्तमें दोष उत्पन्न होते रहते हैं एवं जो सामर्थ्यके अनुसार आवश्यकता पड़नेपर भी खर्च नहीं करता, उसका चित्त भी शुद्ध नहीं हो सकता।

प्रायः देखा जाता है कि लोग वह साधन करना चाहते हैं, जो उनकी योग्यता और रुचिके अनुकूल नहीं होता और उस साधनको नहीं करते, जो वे कर सकते हैं; क्योंकि वे साधनमें बड़े और छोटेकी कल्पना कर लेते हैं और जिसको ऊँचे दर्जेका समझते हैं, उसीको करना चाहते हैं। फलतः जो साधन कर सकते हैं, उसमें विश्वास और श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती, और जिसे करना चाहते हैं, वह होता नहीं। अतः उनका चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।

साधकको चाहिये कि अपनी योग्यता और रुचिके अनुसार साधन–निर्माण करके विश्वासपूर्वक तत्परताके साथ उसमें लग जाय। अपने जीवनमें किसी प्रकारके दम्भ और दिखावेको स्थान न दे। मनको भगवान्‌में लगावे, बुद्धिको अपना दोष देखनेमें लगावे, शरीरको सर्वहितकारी कर्ममें लगावे। प्राप्त शक्तिमें आसक्त न हो, अप्राप्तका चिन्तन न करे। किसी प्रकारके गुण और दोषोंका अभिमान न करे; क्योंकि अभिमानके रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।

जब साधकका ईश्वरपर, अपने-आपपर और कर्त्तव्यपर विश्वास हो जाता है, तब उसके मनमें किसी प्रकारका भय या चिन्ता नहीं रहती। *भय और चिन्ताका सर्वथा अभाव हो जाना ही चित्तकी शुद्धि है।* साधकके जीवनमें न वस्तुओंके नाशका भय होना चाहिये न मृत्युका, और न किसी अन्य प्रकारका। उसे तो सदा भगवान्‌की महिमाको समझकर सदाके लिये निर्भय हो जांना चाहिये।

भय तो उसको होता है जो शरीर और संसारपर विश्वास करता है एवं जिसके पास कुछ होता है। जिसके पास अपना कुछ भी नहीं होता, जो सर्वस्व भगवान्‌को सौंप चुका है, उसको भय क्यों होगा ?

कर्त्तव्यविश्वास और अत्मविश्वासका भी आधार ईश्वरविश्वास ही है। उसके बिना दूसरे विश्श्वास सुरक्षित नहीं रहते।

चित्तकी शुद्धिके लिये अहंता और ममताका नाश अनिवार्य है। विचारमार्गी पहले अहंभावको मिटाता है, अहं न रहनेसे ममता अपने

आप मिट जाती है। भगवद्‌विश्वासी पहले ममताका त्याग करता है, फिर उसका अहंभाव गलकर अपने प्रियतमकी प्रीति बन जाता है।

माने हुए अहंभावके मिटनेसे 'है' का बोध हो जाता है और ममता मिटनेसे प्रेमका उदय होता है। अतः अहं और मम मिटनेसे बोध और प्रेमकी प्राप्ति होती है--जो चित्तशुद्धिका वास्तविक फल है।

(३०)

यह बात कही गयी थी कि अहंता ममताका नाश होनेपर चित्त शुद्ध होता है। अब यह विचार करना है कि मनुष्यको यह मालूम हो जानेके बाद भी अहंता और ममता मिटती क्यों नहीं? विचार करनेपर मालूम होगा हम वर्तमान जीवनमें संतुष्ट हैं, इसीमें किसी-न-किसी प्रकारका सुख मानते हैं। इस कारण जीवनके परिवर्तनकी आवश्यकताका ज्ञान नहीं होता। जबतक मनुष्य सुखपूर्वक या दुःखपूर्वक वर्तमान स्थितिमें रह सकता है, तबतक उसका जीवन परिवर्तित नहीं होता। जबतक मनुष्य सुख-दुःखके जालमें फँसा रहता है, तबतक बड़े-से-बड़ा तपस्वी और संयमी हो जानेपर भी उसके जीवनमें वांछित परिवर्तन नहीं होता। उसके सभी प्रयत्न विफल होते रहते हैं।

कामनाकी पूर्ति होनेपर भी अभाव बना रहता है, उसकी पूर्ति नहीं होती। कामनाकी पूर्ति न होनेपर भी पूर्तिकी आशा बनी रहती है। इस प्रकार सुखमें दुःख और दुःखमें सुखकी आशा मिली रहनेके कारण मनुष्य सुख-दुःखके जालमें फँसा रहता है।

सुख और दुःखका आक्रमण बड़ा भयंकर होता है। उस समय प्राणीके मनके दो भाग हो जाते हैं। भीतरका मन कुछ और रहता है, बाहरका कुछ और रहता है। उस समय प्राणी उपदेशकी बात नहीं सुनता। दूसरेके समझानेपर वह ऊपरसे हाँ-हूँ कर देगा; परंतु भीतरमें उस परिस्थितिके चिन्तनमें ही डूबा रहेगा। जिसका धन चला गया हो उसे कोई समझाये, धनके दोष बतलाये तो वह नहीं सुनेगा। उस समय यदि कोई धन-प्राप्तिका उपाय बताये, उसके लिये मन्त्र, जप

आदिका अनुष्ठान बताये तो बड़े गौरसे सुनने लगेगा और वह बात उसे बहुत प्रिय मालूम होगी। इस प्रकार सुख और दुःख मनुष्यको एक अवस्थामें आबद्ध कर देते हैं।

यदि दुःखकी पूर्णता हो जाय, तो उसका दुःख अवश्य मिट जाता है। पूरे दुःखमें दुःखका चिन्तन करनेकी शक्ति नहीं रहती। इसी प्रकार अत्यन्त सुखमें भी होश नहीं रहता। उस समय मनुष्य बेहोश या मूर्छित हो जाता है। परन्तु प्रायः मनुष्य न तो पूर्ण सुखी ही होता है, न पूर्ण दुःखी ही होता है। ऊपरसे दुःखका भान और भीतरसे सुखकी आशा बनी रहती है। कुछ इच्छाएँ पूरी होती रहती हैं, कुछ पूरी नहीं होतीं। यह अवस्था जीवनमें परिवर्तन नहीं लाने देती।

साधकको विचार करना चाहिये कि मेरे मनमें संकल्पोंका उदय ही क्यों होता है? जब किसी-न-किसी प्रकारका राग विद्यमान है, तब उसीसे संकल्प होते हैं। अतः मुझे रागका नाश करना चाहिये।

जिसके पास धन न हो, उसे दान करनेका संकल्प नहीं उठने देना चाहिये; क्योंकि धनकी प्राप्ति या तो परिश्रमसे होती है या कोई अपना मानकर दे दे, तब। जिसको न तो श्रमके बदलेमें धन मिला है और न किसीने स्वेच्छासे उसे धन दिया है, ऐसी परिस्थितिमें यदि वह अपने घरवालोंपर दबाव डालकर दान करने या अपनी इच्छानुसार खर्च करनेके लिये उनसे धन लेनेकी चेष्टा करता है तो आपसमें मनोमालिन्य होता है। इससे चित्त अशुद्ध होता है; क्योंकि किसीके दुःखसे मिली हुई वस्तु कालान्तरमें दुःखके रूपमें सामने आती है। जिस दानके देनेमें देनेवालेको या उसके सम्बन्धियोंको दुःख होता है, वह दान लेने दोनोंमेंसे किसीको भी लाभ देनेवाला नहीं होता। दान तो संग्रह करनेका टैक्स है। इससे चित्तशुद्धिका सम्बन्ध नहीं है। वह काम यदि अपने परिश्रमसे कमाये हुए धनसे सबकी प्रसन्नतायुक्त सम्मति प्राप्त करके इस भावसे करे कि भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌के काममें लग रही है, मैं भी उन्हींका हूँ और लेनेवाला

भी उन्हींका है, लेना-देना सब उन्हींकी प्रसन्नताके लिये है, तो इस भावसे उसका चित्त शुद्ध हो सकता है। महत्त्व भावका है न कि दानका।

न कमानेवालेका खर्च करना सबको बुरा लगता है, अतः खर्च करनेवालेको यह सोचना चाहिये कि मैं जिस वस्तुको खर्च करना चाहता हूँ उसमें दूसरेका भी हक है। सम्मिलित कुटुम्बके धनमें सभी मेम्बरोंका हक होता है। अतः पुत्रको पिताका परामर्श लेना चाहिये, पिताको पुत्रसे लेना चाहिये। भाई-भाईको परस्पर परामर्श लेना चाहिये। पति-पत्नीको भी आपसमें परामर्श करना चाहिये। इस प्रकार सबकी सम्मति और प्रसन्नताके अनुसार खर्च करना चाहिये। तभी परस्परका सम्बन्ध रह सकता है, अधिकारके अभिमानमें आकर मनमाना दान या किसी प्रकारका खर्च करनेमें लाभ नहीं होता।

सबकी सम्मति और प्रसन्नता प्राप्त न हो तो करनेकी अपेक्षा न करना अच्छा है; क्योंकि न करनेसे भी सब कुछ मिल सकता है। अर्थात् करनेकी वासनाका त्याग करनेसे साधकको वह प्राप्त होता है जो करनेसे नहीं होता। साधकको सोचना चाहिये कि यह जगत् भगवान्‌के संकल्पसे बना है। उसीका संकल्प पूरा होने दें। इस प्रकार जब साधक अपने संकल्पको ईश्वरके संकल्पमें मिला देता है, तब उसके करनेका संकल्प मिट जाता है।

साधकको चाहिये कि जब किसी वस्तुके अभावमें दुःख हो, तब जिनके पास वह वस्तु भरपूर है उनके जीवनको देखे कि वे सुखी हैं क्या? देखने और उनसे पूछनेपर मालूम होगा कि बड़े-से-बड़े धनी, मानी, राजा, महाराजाके अभावकी पूर्ति नहीं हुई। वे भी अपनेको दुःखी मानते हैं। उनके जीवनमें भी पूरा सुख नहीं है। यह देखकर वस्तुओंके अभावकी पूर्तिकी आशा छोड़ दे और अपनी वास्तविक आवश्यकता समझे; क्योंकि उसको जाने बिना और उसके लिये दूसरी सब वस्तुओंकी चाह छोड़कर एकमात्र उसीकी पूर्तिके लिये व्याकुल हुए बिना वास्तविक सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

साधकको अपना जीवन इतना सुन्दर बनाना चाहिये जिससे

उसकी प्रत्येक आवश्यकता दूसरोंकी आवश्यकता बन जाय। अर्थात् दूसरोंको उसके जीवनकी आवश्यकता मालूम होने लगे।

ईश्वरविश्वासी साधक कभी भगवान्‌से कुछ चाहता नहीं भगवान् उसे जिस परिस्थितिमें रखते हैं, उसीमें प्रसन्न रहता है। वस्तु प्राप्त होनेपर तो भगवान्‌के आज्ञानुसार उसका सदुपयोग कर देता है और न मिलनेपर भगवान्‌को धन्यवाद देता है। वस्तुओंके मिलने और न मिलनेमें भी भगवान्‌की कृपाका ही दर्शन करता है।

मनकी बात पूरी कर देनेसे मन नहीं मरता। पूरी न करनेका हठ करनेसे भी मन नहीं मरता। अतः साधकको चाहिये कि न तो मनकी बात पूरी करनेका हठ करे और न पूरी कर देनेका ही हठ करे। जो कुछ होता रहे, उसीमें प्रसन्न रहे; क्योंकि वस्तु, अवस्था या अन्य किसी प्रकारकी परिस्थितिकी चाह न रहना ही मनका मर जाना है।

यदि कोई कहे कि मनमें भजन करनेकी चाह हो तो क्या उसे भी मिटा देना चाहिये? इसका उत्तर यह है कि मन अपना रहते हुए भजन नहीं होता है। मनके मर जानेपर या प्रभुको सौंप देनेपर ही भजन होता है। इसलिये यह प्रश्न नहीं बन सकता।

जो मनुष्य यह सोचता है कि 'लड़का होशियार होनेपर कामका भार उसे सम्हलाकर भजन करूँगा, या अमुक जगह रहकर भजन करूँगा, अमुक प्रकारकी परिस्थिति मिलनेपर भजन करूँगा।' तो समझना चाहिये कि उसके मनमें भजनका उतना महत्त्व नहीं है जितना कि परिस्थिति और वस्तुओंका है। अतः वह भजन नहीं कर सकता। जिसको पहला स्थान नहीं दिया जायगा अर्थात् सबसे बढ़कर जिसको महत्त्व नहीं दिया जायगा, वह चीज नहीं आयेगी।

भजनके लिये किसी भी वस्तु और परिस्थितिकी आवश्यकता नहीं है। जिसका भगवान्‌पर विकल्परहित विश्वास होता है, जो सबसे सम्बन्ध तोड़कर एकमात्र भगवान्‌को ही अपना मान लेता है, उससे भजन अपने-आप होता है, उसे करना नहीं पड़ता। जो किया

जाता है, जिससे किसी वस्तु और परिस्थितिका सम्बन्ध है, वह भजन नहीं है; उत्कृष्ट कर्म हो सकता है। उसका फल वर्तमानमें नहीं मिलेगा, कालान्तरमें मिलेगा।

जिसपर भगवान्‌की कृपा होती है, उसको दुनियाँसे ऐसा थपेड़ा मिलता है कि फिर वह उसकी ओर मुँह नहीं करता।

मनकी बातका पूरा होना तो एक प्रकारकी बेड़ी है। मनमें जो संकल्प उदय होते हैं, उनका कारण अविवेक है। इस संसारसे जो अपनेको मिला रक्खा है, यही सब दुःखोंका कारण है और यही विवेकका अनादर है।

अतः साधकको चाहिये कि प्राप्त-विवेकका प्रयोग शरीरपर करे, शरीरकी अवस्थाको अपनी न माने; क्योंकि शरीरके व्यापारको अपना मानते रहनेसे बार-बार संकल्प होते रहेंगे, उनका जाल कभी नहीं टूटेगा। अतः विचार करना चाहिये कि यह शरीर वास्तवमें है क्या? यह मैं कैसे हो सकता हूँ और यह मेरा कैसे हो सकता है अर्थात् किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। इस प्रकार विचार करके इस संसारसे और शरीरसे अपनेको अलग अनुभव करे। इस प्रकार समझको तो संसारपर लगाये और मन भगवान्‌में लगाये अर्थात् विश्वास और प्रेम भगवान्‌में करे।

विश्वास और प्रेम ही आस्तिकवाद है, विवेकके प्रकाशसे प्रकाशित रहना ही दार्शनिकता है।

गम्भीरतापूर्वक विवेकद्वारा शरीरकी उत्पत्तिको, स्थितिको और अन्तकी अवस्थाको देखना, शरीरपर विवेकको लगाना है। समझी हुई बातसे आँख मींच लेना अर्थात् उसे जानकर भी बेजानी कर देना--यही अविवेक है। जो शरीरकी असलियतको देख लेगा, वह संसारकी असलियतको भी समझ लेगा। एवं जो अपनेको देख लेता है अर्थात् मैं कौन हूँ, इसको जान लेता है, वह उस परमेश्वरको भी जान लेता है।

मुक्ति किसी अभ्यासका फल नहीं है, विवेकका फल है। भक्ति

भी विश्वास और प्रेमसे मिलती है, अभ्याससे नहीं मिलती। अभ्याससे तो शक्ति मिल सकती है। भुक्ति अर्थात् सुख-भोग और उसकी चाह ने ही मनुष्यको भक्ति, मुक्ति और शक्तिसे अलग किया है।

भक्ति और मुक्तिके मिलनेपर शक्ति तो अपने-आप आ जाती है।

(३१)

पहले यह बात कही थी कि कामनाकी पूर्ति होनेपर भी अभाव रहता है और पूरी न होनेपर उसका दुःख होता है। इस प्रकार सुख-दुःख होते रहनेके कारण चित्त शुद्ध नहीं होता।

अब विचार यह करना है कि ऐसा क्यों होता है? विचार करनेपर मालूम होगा कि प्राणी अनादिकालसे 'करता' आया है। अर्थात् बोलना, सुनना, देखना, सूँघना, स्पर्श करना, चलना-फिरना, खाना-पीना आदि सभी इन्द्रियोंके कर्म 'करने'के अन्तर्गत हैं और इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे सम्बन्ध होनेका नाम ही भोग है। इस 'करने' के अभ्याससे उसकी कर्ममें और भोगमें आसक्ति हो गयी है। यह आसक्ति ही उसे किसी-न-किसी प्रकारकी प्रवृत्तिमें लगाये रखती है। 'करना' छोड़नेसे अर्थात् करनेकी वासनासे रहित होनेपर जो दिव्य जीवन मिलता है, जिसकी प्राणी को परम आवश्यकता है, उसका अनुभव यह आसक्ति ही नहीं होने देती। अतः प्राणी 'करने' के अन्तमें कुछ प्राप्त न होनेपर भी करनेमें ही लगा रहता है, उसे छोड़ता नहीं। सुनना बंद करे तो देखने लग जाता है, देखना बंद करे तो बोलनेमें लग जाता है। इसी प्रकार कुछ-न-कुछ करता ही रहता है।

जब ऊपरसे 'करना' छोड़ देता है, तब भीतरमें मनोराज्य करने लगता है। आसक्तिके कारण जो संस्कार जम गये, उनकी स्मृति होती रहती है। सुख नहीं रहता, परंतु उसकी आसक्ति रहती है। उसका नाश नहीं होता। उस आसक्तिके कारण बीती हुई बातका स्मरण (चिन्तन), वर्तमानमें प्रवृत्ति और भविष्यकी आशा नहीं मिटती, इस कारण चित्त शुद्ध नहीं होता।

साधकको अपने प्राप्त विवेकका आदर करके विचार करना चाहिये कि जो कुछ देखने-सुननेमें आता है अर्थात् इन्द्रियोंद्वारा जाननेमें आता है वे सभी दृश्य परिवर्तनशील और अनित्य हैं। अतः उनके द्वारा जो कुछ किया जाता है, वह भी अनित्य है। इन सबका परिवर्तन हो रहा है; परंतु मेरा परिवर्तन नहीं होता। इनके न रहनेपर भी मैं रहता हूँ, शरीर बदल गया, परिस्थिति बदल गयी परंतु मैं वही हूँ, जो पहले था। अतः उसके साथ मेरी जातीय एकता नहीं है, केवल माना हुआ सम्बन्ध है, जो मिटाया जा सकता है। इस प्रकार विचार करनेके बाद कुछ समयके लिये कुछ भी न करनेकी स्थितिमें रहकर अपने जीवनका निरीक्षण करना चाहिये एवं उस स्थितिका अनुभव करना चाहिये, जो 'न करने' से प्राप्त होती है। ऐसा करनेसे उस समय साधकको उस आनन्दकी झलक मिलती है जो अनन्त कालतक करते रहनेपर कभी नहीं मिली। तब उसको उस दिव्य जीवनकी आवश्यकताका अनुभव होता है।

जब साधक शरीर और संसारसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करके सब प्रकारकी चाहसे रहित हो जाता है, तब उसका चित्त शुद्ध हो जाता है। यहाँसे प्रेमका आरम्भ होता है। इसके पहलेकी जो भक्ति है वह तो चित्तशुद्धिका ही एक उपाय है। उसे प्रेम नहीं समझना चाहिये।

एक भाई गोपी-प्रेम की बात पूछ रहे थे। इसलिये कहना है कि जब तक प्राणी का शरीर और संसार से सम्बन्ध नहीं छूटता, जब तक वह शरीर को 'मैं' और संसार को अपना मानता है तब तक गोपी-प्रेम की बात समझ में नहीं आती। प्रेमी में चाह नहीं रहती, इसलिये प्रेमी अपने लिये कुछ नहीं करता, जो कुछ करता है वह अपने प्रियतम को रस देने के लिये ही करता है। यहाँ तर्कशील मनुष्य यह प्रश्न कर सकता है कि भगवान् तो सब प्रकार से पूर्ण और रसमय आनन्दस्वरूप हैं। उनमें किसी प्रकार का अभाव ही नहीं है। उनको रस देने की बात कैसी? उसको समझना चाहिये कि यही तो प्रेम की महिमा है, जो आप्तकाम में भी कामना उत्पन्न कर देता

है, सर्वथा पूर्ण में भी, अभाव का अनुभव करा देता है। प्रेमियों का भगवान् सर्वथा निर्विशेष नहीं होता। उनका भगवान् तो अनन्त दिव्य गुणों से सम्पन्न होता है। और उनका अपना प्रियतम होता है। उनकी दृष्टि में भगवान् के ऐश्वर्य का भी महत्त्व नहीं है। उनका भगवान् तो एक मात्र प्रेममय और प्रेम का ग्राहक है।

प्रेमी भगवान् को रस देने के लिये ही अपना जीवन सुन्दर बनाते हैं। जैसे सुन्दर पुष्प को खिला हुआ देखकर वाटिका का स्वामी उस फूल से प्रेम करता है, उसको हाथ में लेता है, सूँघता है, उसकी शोभा को देखकर प्रसन्न होता है, वैसे ही भगवान् भी अपने प्रेमी को चाहरहित सुन्दर जीवन युक्त देखकर प्रसन्न होते हैं, उनको उससे रस मिलता है।

पुष्प तो जड़ होता है, इस कारण स्वयं मालिक से प्रेम नहीं करता। जैसे धन से मनुष्य प्रेम करता है, परंतु धन जड़ होने के कारण मनुष्य से प्रेम नहीं करता। जीव जड़ नहीं है, चेतन है इसलिये यह भी अपने प्रियतम से प्रेम करता है। अर्थात् भक्त भगवान् से प्रेम करता है और भगवान् भक्त से प्रेम करते हैं। भगवान् भक्त के प्रियतम और भक्त भगवान् का प्रियतम हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण और किशोरीजी की प्रेमलीला से यह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है। उनकी लीला अपने भक्तों को प्रेम का तत्त्व समझाने और रस प्रदान करने के लिये ही हुआ करती है। एक समय श्याम सुन्दर के मन में किशोरीजी को प्रेम-रस प्रदान करने के लिये उनकी परीक्षा की लीला करने का संकल्प हुआ, तो आपने एक देवांगनाका रूप धारण किया और किशोरी जी के पास गये। बातचीत के प्रसंग में श्याम सुन्दर ने कहा- 'किशोरी जी ! आप श्याम सुन्दर से इतना प्रेम क्यों करती हैं, वे तो आपसे प्रेम नहीं करते।' तब किशोरी जी ने कहा- 'तुम इस बात को क्या समझो ! प्रेम करना तो श्यामसुन्दर ही जानते हैं। वे ही प्रेम करते हैं। मुझमें प्रेम कहाँ है? देवांगना बोली-'नहीं-नहीं, वे तो प्रेम नहीं करते, तुम्हीं प्रेम करती हो।' तब किशोरी जी ने कहा- 'देवी ! प्रेम करना जैसा

श्याम सुन्दर जानते हैं, वे जितना और जैसा प्रेम करते हैं, वैसा कोई नहीं कर सकता।' तब देवांगना बोली- मैं तो यह नहीं मान सकती।' किशोरी जी ने कहा- ' तुमको कैसे विश्वास हो ?, देवांगना बोली - 'यदि वे आपके बुलाने से आ जायँ तो मैं समझूँ कि सचमुच वे भी आपसे प्रेम करते हैं।' किशोरी जी ने कहा- ' यह तो तब हो सकता है जब कि कुछ समय तक तुम मेरी सखी बनकर यहाँरहो।' देवांगना ने किशोरी जी की बात स्वीकार की और उनकी सखी बनकर रहने लगी। तब किशोरी जी ने भाव में प्रविष्ट होकर भगवान् से कहा- 'प्यारे ! तुम कहाँ हो ? इतना कहते ही देवांगना से भगवान् श्यामसुन्दर हो गये। उनको देखकर किशोरी जी ने कहा-'ललिते ! वह देवांगना कहाँ है?' उसे बुलाकर प्यारे का दर्शन कराओ।' तब ललिता बोली- 'प्यारी ! उसी में से यह देव प्रकट हुए हैं, वह अब कहाँ है।' ललिता विवेक-शक्ति का अवतार है, यह भक्त और भगवान् को मिलाती रहती है। इस लीला से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भक्त भगवान् से प्रेम करता है और भगवान भक्त से प्रेम करते हैं।

प्रेमी भक्त और भगवान् अभिन्न होते हुए भी दो हैं और दो होते हुए भी एक हैं। इस पर भी भगवान् की एक लीला याद आ गयी।

एक दिन श्याम सुन्दर किशोरी जी के मुख की ओर देखकर बोले- 'प्यारी ! तेरा मुख तो मानो चन्द्रमा है और मेरे नेत्र चकोर हैं। ये उसे देखते-देखते कभी तृप्त ही नहीं होते।' तब किशोरी जी ने कहा-'प्यारे! तुम चन्द्रमा की उपमा देकर स्तुति में मेरी निन्दा क्यों करते हो? चन्द्रमा तो घटता-बढ़ता है, उसमें तो विष है, वह तो कलंकित है, उसके साथ मेरे मुख की उपमा कैसे हो सकती है?' श्याम सुन्दर बोले-'प्यारी ! मैं तो तुम्हारे मुख की निन्दा नहीं करता, चन्द्रमा के शीतल प्रकाश और उसकी सुन्दरता से तुलना करके तुम्हारे मुख की शोभा का वर्णन करता हूँ।' किशोरी जी ने कहा- 'ऐसी बात नहीं है। तुम तो स्तुति में निन्दा करते हो।' इतना कहकर किशोरी जी वहाँ से अन्तर्धान हो गयीं। तब श्याम सुन्दर विरह में व्याकुल होकर किशोरी जी को खोजने के लिये वन-वन भटकने

लगे। इधर किशोरी जी विरह-व्याकुल होकर भगवान् में तन्मय हो गयीं और अपनेको श्याम सुन्दर समझने लगीं। वह भी वन में किशोरीजी को खोजने लगीं। रास्ते में दोनों की भेंट हुई। वे कहने लगे-'मैं नन्दलाल हूँ। 'वह कहने लगीं-' मैं नन्दलाल हूँ इत्यादि।'

प्रेम की ऐसी महिमा है। उसे न भेद कहा जा सकता है, न अभेद ही कहा जा सकता है। उसमें दूरी भी नहीं है, एकता भी नहीं है। प्रेम का स्वरूप वर्णन करने में नहीं आता।

अभेदवाद में तो जीवनमें ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा होती है, ब्रह्ममें नहीं। अतः जैसे समुद्र अपनी महिमा में प्रतिष्ठित रहता है, उसे नदी की आवश्यकता नहीं होती, नदी ही समुद्र की ओर चलकर उसमें मिलती है, उसी प्रकार जिज्ञासु ब्रह्म को प्राप्त होकर उसमें एक हो जाता है, उसमें भिन्नता नहीं रहती। इसी प्रकार योगी भी कैवल्य अवस्था को प्राप्त हो जाता है। परंतु प्रेम में तो एक दूसरे को रस प्रदान करते रहते हैं। अतः प्रेम-रस अनन्त है, उसकी कभी पूर्ति नहीं होती।

साधक का प्रयत्न तो चित्त शुद्धि तक ही है। उसके बाद साधक जिस भाव को लेकर साधन आरम्भ करता है, उसके अनुसार मुक्ति (बोध), योग और प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। जो किसी प्रकार के भाव को लेकर नहीं चलता, उसको सभी मिल जाते हैं।

प्रेम में देने का भाव रहता है, लेने की इच्छा नहीं रहती। सच्चा सेवक स्वामी से कुछ चाहता नहीं, उनके सुख में ही सुखी रहता है। माता पुत्र का लाड़-प्यार करके उसे सुखदेने में ही प्रसन्न रहती है, मित्र एक दूसरे को सुख देता है। पति-पत्नी आपस में एक-दूसरे को सुख देते हैं। कोई भी एक दूसरे से कुछ लेना नहीं चाहता। इस प्रकार चारों प्रकार के भक्तों का भाव समझ लेना चाहिये।

(३२)

यह बात पहले कही गयी थी कि शरीर और संसार के माने

हुए सम्बन्ध का त्याग करने से चित्त शुद्ध होता है। उसी पर फिर विचार किया जाता है कि इस सम्बन्धका त्याग कैसे हो?

विचार करने पर मालूम होगा कि प्राप्त विवेक का आदर करके उसके अनुसार जीवन बनाने से और मान्यता के अनुसार कर्त्तव्य का पालन करने से सहज ही शरीर और संसार से सम्बन्ध-विच्छेद हो सकता है।

हरेक मनुष्य की योग्यता में भेद होता है। इसलिये कर्म में और भोगों में एक मनुष्य की दूसरे से समानता नहीं हो सकती। तो भी प्राणी सुख, दुःख और परिस्थिति में दूसरे की बराबरी करना चाहता है। भगवान् का चिन्तन करने में और चाहरहित होने में सभी स्वतंत्र हैं। अतः इसमें समानता है। परन्तु इसमें लोग बराबरी नहीं करते हैं, कह देते हैं– हमारे भाग्य में यह नहीं बदा, हमारी योग्यता नहीं है, शक्ति नहीं है इत्यादि।

प्रभु-चिन्तन करने से अथवा किसी प्रकार का भी चिन्तन न करने से प्रभु की प्राप्ति होती है। इन दोनों में से कोई भी साधन हरेक साधक अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार कर सकता है। साधन में भेद होने पर भी फल में भेद नहीं है।

साधक को मन की आवाज का अनुसरण न करके विवेक की आवाज पर ध्यान देना चाहिये। विवेक की आवाज बड़ा महत्त्व रखती है, मन हर समय धोखा देता रहता है, उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भोगों की ओर है; अतः साधक को अपने साधन का निर्माण योग्यता के अनुसार विवेक के प्रकाश में करना चाहिये। लोगों की देखा देखी मनमाना साधन करने से चित्त शुद्ध नहीं होता।

साधक को चाहिये कि अपनी जानकारी के अनुरूप अपना जीवन बनावे और मान्यता के अनुसार कर्त्तव्य का पालन करे। दूसरों की जानकारी का अनादर न करे और किसी प्रकारका संदेह न करे। इससे चित्त शुद्ध होता है।

जब तक साधक मानता कुछ और है तथा करता कुछ और ही

है, तब तक उसका चित्त शुद्ध नहीं होता।

चित्तकी शुद्धि किसी कर्म का या प्रारब्ध का फल नहीं है। वह तो प्राप्त योग्यता के सदुपयोग से ही होती है। कर्म का फल तो सुख-दुःख का भोग तथा परिस्थिति है।

मनुष्य न तो अपनी जानकारी का आदर करता है और न ईश्वर पर विश्वास करता है। यही कारण है कि उसके जीवन का परिवर्तन नहीं होता।

पहले कहा गया था कि विवेक का आदर करके विचार करने पर हरेक मनुष्य समझ सकता है कि शरीर का परिर्वतन होता रहता है, पर मेरा नहीं होता। शरीर न रहने पर भी मैं रहता हूँ। जिसको मैं अपना कहता हूँ, वह मैं, खुद नहीं होता। यह हरेक कहता है कि हाथ मेरा हे, देह मेरी है, सिर मेरा है, आँख मेरी है, मन मेरा है, बुद्धि मेरी है इत्यादि। इन्हीं के समुदाय का नाम शरीर है। अतः शरीर मैं नहीं हूँ। यह सभी समझ सकते हैं। तो भी कितने आश्चर्य की बात है कि अपने को बुद्धिमान कहने वाले भी यही मानते हैं कि शरीर ही मैं हूँ। इससे भिन्न जो एक दिव्य और नित्य जीवन है, उसका अनुभव नहीं करते, यही अपनी जानकारी का अनादर करना है।

इसी प्रकार यह बात है कि हरेक मान्यता के साथ उसका विधान रहता है। जो अपने को जैसा मानता है, उस मान्यता के अनुरूप विधान ही उसका कर्त्तव्य है, परंतु भोगों में आसक्त मनुष्य उसका पालन नहीं करता। कहता है-' मैं हिंदू हूँ, परन्तु उसका एक विधान जो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' है, उसे क्रियात्मक रूप नहीं देता। अपने को ब्राह्मण मानता है, परन्तु ब्राह्मण के शम-दमादि कर्त्तव्य का पालन नहीं करता। इसी प्रकार हरेक वर्ण,-आश्रम के विषय में समझ लेना चाहिये। मान लेता है कि मैं आत्मा हूँ, पर 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' को भूल जाता है और मरने से डरता रहता है। अपने को मनुष्य मानकर भी, उसका कर्त्तव्य जो अपनी निर्बलता को देखना और मिटाना है, उसका पालन नहीं करता। अपने को पुरुष मानकर भी, पुरुष का कर्त्तव्य जो अपनी पत्नी की इच्छा पूर्ण करना है, वह

नहीं करता अपने को स्त्री मानती है; परंतु स्त्री का कर्त्तव्य, जो पति की आज्ञा मानना है, उसका पालन नहीं करती। यही बात हरेक मान्यता के विषय में लागू होती है। यदि मनुष्य अपनी मान्यता के अनुसार कर्त्तव्य-पालन करे, तो उसका संसार से वैराग्य हो जाय, यह नियम है; क्योंकि कर्त्तव्य विज्ञान का नाम ही धर्म है और धर्म-आचरण का फल वैराग्य है।

साधक को चाहिये कि जानकारी के अनुरूप विकल्प रहित जीवन बनावे एवं अपनी मान्यता को क्रियात्मक रूप दे। यदि मान्यता के अनुसार कर्त्तव्य पालन न कर सके तो उस मान्यता का ही त्याग कर दे। साधक को अपनी योग्यता का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये।

यदि साधक की प्रवृत्ति कर्त्तव्य के विपरीत रहेगी तो उसके जीवन में द्वन्द्व होगा। यदि वह गृहस्थ है और ठीक-ठीक उसके विधान का पालन करता है तो जीवन का विकास होगा।

संसार पर जो मनुष्य का अधिकार है, उसका त्याग करने से ही मनुष्य संसार से उत्रऋण हो सकता है। जब तक अपने अधिकार का अभिमान रहता है, तब तक न तो उसका चित्त शुद्ध हो सकता है, न वह संसार को छोड़ सकता है और न उसके ऋण से ही मुक्त हो सकता है; क्योंकि वह संसार से कुछ न कुछ लेना चाहता है, उसकी चाह का अन्त नहीं होता।

यदि साधक दूसरे के अधिकार की रक्षा न कर सके तो उसे चाहिये कि दूसरों से क्षमा माँग ले और अपनी अधिकार-पूर्ति की आशा छोड़कर संसार से सम्बन्ध-त्याग कर दे। संसार से सम्बन्ध छूटते ही अपने-आप ईश्वर से सम्बन्ध जुड़ जायगा।

जब तक मनुष्य मान्यता तो केवल कथन मात्र में रखते हैं और जीवन में देह भाव रखते हैं, विधान का पालन नहीं करते, तब तक उनका चित्त शुद्ध नहीं होता। देहभाव भोगों में फँसाता है। इच्छा-द्वेष, सुख और दुःख -इनकी उत्पत्ति देहभाव से ही होती है।

जब यह निश्चय हो जाता है कि शरीर मैं नहीं हूँ, तब उसके बाद भोगवासना का उदय नहीं होता। बिना भोगवासना के इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख नहीं होते। चित्त शुद्ध हो जाता है। शरीर मैं नहीं हूँ इस बात को ठीक-ठीक समझ लेने से ही बेड़ा पार हो जाता है।

मै शरीर नहीं हूँ, यह निश्चय करना ही पहली साधना है। अत भोगवासनाओं ने ही मनुष्य को देहभाव में आबद्ध कर रक्खा है। इसलिये जब तक यह निश्चय न हो जाय कि मैं शरीर नहीं हूँ, तब तक उस पर बुद्धि को लगाते रहना चाहिये। चित्त शुद्ध होने पर ईश्वर-प्रेम स्वतः प्राप्त हो जाता है।

जो अपने को नहीं जानता, वह ईश्वर को कैसे जान सकता है? अतः साधक आत्मा और परमात्मा को बुद्धि से जानने की कोशिश न करे; क्योंकि आत्मा और परमात्मा बुद्धि का विषय नहीं है, साक्षात्कार का, बोध का विषय है।

मैं शरीर नहीं हूँ यह जान लेने से समस्त वासनाओं का अन्त हो जायगा, चित्त स्थिर हो जायगा, बुद्धि सम हो जायगी। समस्त दुःखों का अभाव हो जायगा। उसके बाद केवल ईश्वर के प्रेम की लालसा रह जायगी और कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहेगा। ईश्वर-प्रेम की लालसा ईश्वर से मिला देगी।

(३३)

आजकल लेख-प्रकाशन और व्याख्यानों का जो रिवाज चल पड़ा है,सच कहा जाय तो इसमें लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो रही है। शिक्षा की दृष्टि से तो लाभ है, जानकारी बढ़ती है, परंतु व्यक्तिगत आध्यात्मिक उन्नति को लेकर विचार किया जाय तो लाभ नहीं है; क्योंकि लेख और व्याख्यान हरेक प्रकार के अधिकारियों की योग्यता पर ध्यान रखकर लिखे जाते हैं। किसी एक साधक के लिये नहीं होते। नाना प्रकार की बात सुनने से साधक अपनी योग्यता के अनुसार किसी एक साधन का निर्माण करके साधन को दृढ़ नहीं बना सकता। ऐसी योग्यता तो किसी बिरले साधक में ही

होती है जो अपने विवेक-बल से साधन का निर्णय करके उस पर दृढ़ निष्ठा कर ले। उसके बाद जहाँ कहीं संदेह हो, किसी प्रकार की उलझन मालूम हो, उसका समाधान महापुरुषों के लेखों द्वारा, सद्ग्रन्थों द्वारा या व्याख्यान में सुने हुए उपदेश द्वारा कर ले और अपनी निष्ठा दृढ़ कर ले। अधिकांश लोग तो दुविधा में ही पड़ते हैं।

पहले सत्संग की प्रणाली बड़ी अच्छी थी। जब किसी के मन में संसार से विरक्ति होती, तब वह किसी गुरु की खोज करता, तीव्र जिज्ञासा होने पर उसे गुरु मिलता, फिर गुरु पहले उसकी रुचि और योग्यता तथा विश्वास को समझता, उसके बाद जो साधन उसके लिये उपयोगी समझ में आता, वह उसे बताता और वह साधक अपने साधन का लोगों में प्रचार नहीं करता, अपितु उसके अनुसार अपना जीवन बनाकर, अर्थात् सुने हुए उपदेश को भलीभाँति आचरण में लाकर और योग, बोध या प्रेम को प्राप्त करके पीछे दूसरे को उसके अधिकारानुसार बताता। इस प्रकार जो प्रचार होता, वह ठोस होता और उससे उत्तरोत्तर व्यक्तियों का निर्माण होता रहता। आजकल के प्रचार से जानकारी तो बढ़ती है, परंतु उसके अनुसार साधना में प्रवृत्ति नहीं होती।

साधक को चाहिये कि अपनी साधना को दृढ़ करने के लिये, अपने संदेह, दुविधा और उलझनों को मिटाने के लिये सत्संग करे। दूसरे को सिखाने के लिये नहीं।

परम सुहृद् परमेश्वर ने कृपा करके सभी मनुष्यों को विवेकशक्ति प्रदान की है। मनुष्य को क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, यह सभी जानते हैं; परंतु अपने विवेक का आदर न करने के कारण मनुष्य अपना जीवन उन्नत नहीं कर पाता। ग्रन्थ, गुरु और व्याख्यान वही बात बताते हैं जो साधक में पहले से ही बीजरूप में विद्यमान होती है वे किसी में कोई नयी शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकते। जैसे पृथ्वी में जैसा बीज पड़ता है, वैसा ही वृक्ष हो जाता है। जो शक्ति बीज में होती है, उसी का विकास पृथ्वी, जल, सूर्य चन्द्र, आकाश और वायु की सहायता से होता है। इसी प्रकार जिसमें

देखने की शक्ति होती है, उसी सूर्य अपने प्रकाशसे सहायता पहुँचाता है इत्यादि।

इससे यह सिद्ध हुआ कि गुरु, ग्रन्थ और सत् चर्चा साधक में विद्यमान विवेकशक्ति को ही विकसित कर सकते हैं। कोई नयी शक्ति प्रदान नहीं कर सकते। गुरु का उपदेश,शास्त्रों का प्रमाण और अपना अनुभव तीनों मिलने से अर्थात् तीनों की एकता होने से साधक का भाव परिपक्व हो जाता है और वह यह निश्चय कर सकता है कि मुझे अमुक साधन करना है।

अतः साधक को चाहिये कि अपने विवेक का आदर करके उसके प्रकाश में सत्संग करे और उससे अपनी उलझन मिटाकर विश्वास को दृढ़ बनाये एवं अपने विश्वास, रुचि और योग्यता के अनुरूप साधन निर्माण करके उसके अनुसार जीवन बनाने के लिये तत्पर हो जाय, अपने साधन में किसी प्रकार का संदेह न करे। यह निश्चय रक्खे कि मुझे इसी से अवश्य लक्ष्य की प्राप्ति होगी और वह वर्तमान में ही होगी।

जो अपने विवेक का आदर नहीं करता, वह सत्संग से भी लाभ नहीं उठा सकता।

जब साधन का निर्माण साधक के विश्वास, रुचि और योग्यता के अनुसार ठीक-ठीक हो जाता है, तब साधक को अपना साधन श्रम-साध्य नहीं मालूम होता, उसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं रहती, प्रत्युत् साधन उसका जीवन बन जाता है। उसके बिना वह रह नहीं सकता। सच्चे साधक में अपने साधन को लेकर किसी प्रकार का अभिमान नहीं होता और दूसरे के साधन का वह अनादर नहीं करता। अपने साधन के प्रति उसका इतना प्यार और दृढ़ विश्वास हो जाता है कि साक्षात् ब्रह्मा आकर कहे कि 'तुम्हारा साधन ठीक नहीं है' इसे छोड़ दो, मैं तुम्हें दूसरा साधन बताता हूँ।' तो वह यही उत्तर देगा कि 'महाराज ! इस विषय में मेरे गुरु जितना जानते हैं, आप नहीं जानते। आपको यदि कृपा करनी हो तो ऐसी करो जिससे जो साधन मैं करता हूँ उसमें मुझे सफलता मिले । मैं

अपना साधन छोड़ नहीं सकता।'

जब साधक का अपने साधन पर दृढ़ विश्वास हो जाता है, तब वह जिस आर्ष ग्रन्थ को देखता है, उसी में उसको अपने साधन की, अपने सिद्धान्त और मान्यता की प्रधानता दीखती है। दूसरे सब साधन उसके सहयोगी मालूम होते हैं। इसके पहले जब तक साधक की एक निष्ठा नहीं होती , तब तक उसको अनेक साधन दीखते हैं एवं जब सिद्ध-अवस्था हो जाती है, उसके तो सभी साधन उपयोगी दिखायी देने लगते हैं; परंतु साधन-अवस्था में साधक को अपना साधन और अपना माना हुआ सिद्धान्त ही सर्वोपरि दीखता है। ग्रन्थों की अनेक टीका बनने का यही कारण हैं। जो जिस मार्ग से चलता है, उसे वही मार्ग सत्य मालूम देता है। साधक को इधर-उधर के मार्ग नहीं दीखते। या तो गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के बाद सब रास्ते दिखलायी देते हैं या चलना आरम्भ करने के पहले अनेक मार्ग दीखते हैं। चलना आरम्भ करने के बाद तो उसे वह एक ही मार्ग दीखता है, जिस पर वह चलता है।

(३४)

चित्त शुद्ध हो जाने पर माना हुआ सम्बन्ध टूट जाता है और अपने नित्य साथी प्रभु से सम्बन्ध हो जाता है।

जिन व्यक्तियों, वस्तुओं और परिस्थितियों के बिना हम दुःख-पूर्वक या सुखपूर्वक अथवा बिना सुख-दुःख की भावना के रह सकते हैं और रहते हैं; उनका सम्बन्ध ही माना हुआ सम्बन्ध है। जिनमें मनुष्य का राग होता है, उनके बिना तो वह दुःख पूर्वक रहता है और जिनमें द्वेष है, उनके बिना सुखपूर्वक रहता है। तथा जिनमें उदासीन भाव है, उनके बिना स्वाभाविक रहता है। ये राग-द्वेष ही बन्धन हैं। ये ही चित्त की अशुद्धि के मूल कारण हैं, इनके रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं होता।

मनुष्य का अधिकांश समय व्यर्थ चेष्टा में व्यतीत होता है। शरीर से तो व्यर्थ चेष्टा उतनी अधिक नहीं होती, परंतु मन तो ६०

प्रतिशत व्यर्थ चेष्टा में ही लगा रहता है। इससे भी अधिक यदि ९९ प्रतिशत कह दिया जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी; क्योंकि आवश्यक संकल्प तो कार्य पूरा होते ही समाप्त हो जाते हैं। इसके सिवा, आवश्यक कार्य करते हुए भी साथ साथ व्यर्थ चिन्तन होता रहता है।

आपस में मन बहलाने के लिये बातचीत करना व्यर्थ चेष्टा है। जब मनुष्य अनेक प्रकार के दुःखों से घिर जाता है, तब उन दुःखों को दबाने के लिये मन बहलाने की बात सामने आती है। वास्तव में दुःख को दूर करने का यह उपाय नहीं है, प्रमाद है।

इन व्यर्थ की चेष्टाओं का त्याग करने में भी आसक्ति युक्त मनुष्य को कठिनाई पड़ती है। इस पर एक घटना याद आ गयी। एक विद्यार्थी ने यह छोटा-सा नियम बना लिया कि 'मैं किसी से बिना प्रयोजन नहीं बोलूँगा। या तो मुझे किसी से कुछ पूछना होगा, तब बोलूँगा या मुझसे दूसरा कुछ पूछेगा, तब बोलूँगा।' तो उसके सब मित्र उससे नाराज हो गये; क्योंकि उसने उनके साथ व्यर्थ बात करनी छोड़ दीं।

संसार सत्य है या मिथ्या, इस पर विवाद करना व्यर्थ है। जो असत्य समझता है, उसे तो कहने की जरूरत नहीं; जो सत्य समझता है, वह भी उससे सम्बन्ध तोड़ना चाहता है। उसे भी संसार की आवश्यकता नहीं। अतः इस पर विवाद करना या विचार करना एक मात्र बुद्धि का व्यायाम है, व्यर्थ चेष्टा है। साधक को इसमें नहीं लगना चाहियं; क्योंकि उसके पास इतना समय ही कहाँ है?

मनुष्य का समय जो अधिकांश व्यर्थ चिन्तन में चला जाता है, इसके तीन कारण हैं-

१. बीती हुई घटनाओं का चिन्तन, २. वर्तमान का दुरुपयोग और ३. भविष्य की आशा।

भूतकाल की घटना का अर्थ न समझने के कारण उसका चिन्तन होता है। यदि मनुष्य विवेक का सदुपयोग करके उ

घटनाओं के अर्थ को समझ ले तो फिर चिन्तन नहीं होगा। जो कोई घटना होती है, उसका कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। उसमें जो अपनी गलती हुई हो, उसे समझकर तो भविष्य में गलती न करने का दृढ़ संकल्प करना चाहिये। उसका कारण प्रमाद हो तो उसे समझकर सावधान हो जाना चाहिये। हरेक घटना भगवान् की इच्छा से होतीहै और उसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हमारा हित निहित रहता है। यह समझकर प्रभु की अहैतुकी कृपा का दर्शन करना चाहिये। इस प्रकार उन घटनाओं का अर्थ समझ लेने के बाद उनका चिन्तन नहीं होता।

प्राप्त-शक्ति का सदुपयोग करने से वर्तमान में होने वाली व्यर्थ चेष्टा और चिन्तन मिट सकते हैं तथा वर्तमान के सदुपयोग से भविष्य भी उज्ज्वल हो जाता है। अतः भविष्य की आशा भी अनावश्यक है। आशा करने से, उसका बार-बार चिन्तन करने से कोई लाभ भी नहीं होता। इसलिये भी आशा करना अनावश्यक है। यह विश्वास होने से भविष्य की आशा मिट सकती है।

अतः साधक को चाहिये कि भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को समझे, वर्तमान का सदुपयोग करे और भविष्य की आशा न करे।

इस प्रकार सावधानी के साथ व्यर्थ चेष्टा और चिन्तनका त्याग कर देने पर और आवश्यक संकल्पों को पूरा कर देने पर साधक को जो समय और सामर्थ्य मिलती है, वह समय और सामर्थ्य ही उसको उसके लक्ष्यतक पहुँचा देती है।

जिस वस्तु और बल का मनुष्य सदुपयोग नहीं करता, वह वस्तु और शक्ति उससे छिन जाती है, यह प्राकृतिक नियम है। इस रहस्य को समझकर भी मनुष्य को प्राप्त वस्तु और शक्ति का सदुपयोग करना चाहिये।

चेष्टा करने पर भी जो व्यर्थ चिन्तन नहीं छूटता, इसका एक कारण यह भी है कि बहुत-सा कूड़ा-करकट मनुष्य के मन में पहले का भरा हुआ है, उसे तो निकालना ही पड़ेगा; अतः अपने मन की

बात मित्र के सामने या जो भी कोई अपना विश्वासी हो, उसक
सामने सरलता से प्रकट करके निकाल देनी चाहिए। जिस किर
प्रकार से उसकी उलटी कर देनी चाहिये, तभी चित्त शुद्ध ह
सकेगा।

पहले की भूलों को याद करके पश्चात्ताप करते रहने से औ
भविष्य की आशा रहने से चित्त शुद्ध नहीं होता। अतः साधक क
चाहिये कि दूसरों में गलती का आरोप करके यानी उसको अपन
गलती में कारण मानकर या अपने ही सदृश दूसरों में गलत
देखकर अपनी गलती के दुःख को दबावे नहीं अपितु उसके दुःख र
घोर दुःखी हो जाय। ऐसा करने से भविष्य में गलती नहीं होगी औ
उस गलती का चिन्तन नहीं होगा, चित्त शुद्ध लगेगा; क्योंकि दुः
से चित्त बहुत जल्दी शुद्ध होता है।

वर्तमान का सदुपयोग करने के लिये साधक को चाहिये कि
संसार के साथ अच्छे से अच्छा बर्ताव करे । हिन्दू धर्म की परम्प
में यह विशेषता है कि हिंदूलोग अपने निकटतम सम्बन्धी से त
विश्वास और प्रेम करते हैं एवं अपरिचित मेहमानों का अधिक
अधिक सत्कार करते हैं। और क्रिया एवं वस्तुओं के द्वारा उनक
अधिक से अधिक सुख देते हैं। बदले में उनसे कुछ लेते नहीं औ
उनमें मोह भी नहीं करते। अतः साधक को समझना चाहिये कि मे
निकटतम, सदा के सम्बन्धी एक मात्र प्रभु हैं। अन्य शरीर और पत
आदि के सहित सबके-सब मेहमान हैं; क्योंकि उनका संयोग-वियो
मेहमान की भाँति होता रहता है। यह समझकर उनका जिस प्रक
हित हो, उनके अधिकार की रक्षा हो, उनको सुख मिले और उनक
इच्छा पूर्ण हो, उसी प्रकार प्राप्त वस्तु और शक्ति लगाकर उनक
सेवा करनी चाहिये। पर न तो बदले में उनसे कुछ मिलने की आश
करनी चाहिये और न उनमें मोह ही करना चाहिये तथा विश्वा
और प्रेम पूरा अपने प्रभु में लगा देना चाहिये।

साधक को चाहिये कि संसार को न तो अपना विरोधी मानक
उससे द्वेष करे और न उससे अपनत्व का सम्बन्ध जोड़कर रा

करे। सर्वथा राग-द्वेष रहित और उदासीन रहे तथा उसके अधिकार की रक्षा करके उससे उऋण हो जाय; क्योंकि संसार का ऋण रहते हुए उसका सम्बन्ध और चिन्तन नहीं टूटता।

मनुष्य सोचता है कि मेरे पास धन होता तो मैं इसका बहुत अच्छा उपयोग करता। मेरे पुत्र होता तो उसके साथ बहुत अच्छा बर्ताव करता, इस प्रकार अन्य वस्तु और शक्ति के विषय में सोचता रहता है; परंतु जब वह प्राप्त परिस्थिति का ही सदुपयोग नहीं करता, तब मिलने वाली परिस्थिति का सदुपयोग कर सकेगा, यह कैसे माना जा सकता है? उसे विचार करना चाहिये कि मेरे पास धन नहीं है तो शरीर तो है, उसका ही मैं क्या सदुपयोग करता हूँ? पुत्र नहीं तो अन्य कुटुम्बीजन तो हैं, उनके साथ कौन-सा अच्छा व्यवहार करता हूँ ? कहाँ उनके अधिकार की रक्षा कर पाता हूँ? जिसके पास आँख नहीं, उसे सोचना चाहिये कि आँख नहीं, पर वाणी तो है, उसका ही मैं कितना सदुपयोग करता हूँ ? इस प्रकार विचार करने पर उसे मालूम हो सकता है कि यह केवल मन का धोखा है। यह झूठमूठ आशा के जाल में फँसा रहकर उसका रस लेना चाहता है।

मनुष्य का मन सांसारिक वस्तुओं में फँसा रहे तो इसका अर्थ यह है कि वह अपने प्रभु से दूर रहना चाहता है, प्रभु के साथ जो उसका नित्य सम्बन्ध है, उसे भूल कर उनसे विमुख रहना चाहता है और जिस संसार के साथ गलती से सम्बन्ध जोड़ लिया है, उसके सम्मुख रहना चाहता है। इससे अधिक प्रमाद और क्या हो सकता है? संसार के सम्बन्ध ने ही मनुष्य को प्रभु से विमुख किया है।

अतः साधक को चाहिये कि संसार के सम्बन्ध को तोड़कर सब प्रकार से अपने प्रभु के सम्मुख हो जाय; क्योंकि जब तक मनुष्य संसार और ईश्वर-इन दोनों से सम्बन्ध रखता है, तब तक दोनों का ही चिन्तन होता रहेगा। एक मात्र भगवान में चित्त नहीं लगेगा। जो साधक भीतर से संसार से सम्बन्ध जोड़े रहता है और ऊपर से सम्बन्ध तोड़ कर भगवान् का भजन-स्मरण करने के लिए अलग

रहता है उसका मन घर में लगा रहता है, वह भगवान् का चिन्तन नहीं कर सकता।

किसी से घृणा करना, उसे बुरा समझकर उससे अलग हो जाना तो मामूली बात है, परंतु भीतर से सम्बन्ध तोड़ना बड़ा कठिन है। उस अलग होने का अर्थ केवल इतना ही होता है कि राग बदलकर द्वेष का रूप धारण कर लेता है। उससे सम्बन्ध नहीं टूटता।

जो मनुष्य अपने शरीर से सम्बन्ध नहीं तोड़ सकता, वह संसार से भी नहीं तोड़ सकता। सम्बन्ध रखते हुए यदि वह हिमालय पर चला जाय तो भी उसका चित्त शान्त और शुद्ध नहीं हो सकता।

अतः साधक को चाहिये कि अपने साथियों के अधिकार की रक्षा करता रहे और अपना कर्त्तव्य पालन करता रहे। यदि कर्त्तव्य पालन न कर सके तो बाहर भीतर सब प्रकार से सम्बन्ध छोड़ दे। मरने से पहले-पहले संसार से सम्बन्ध तोड़कर अपने प्रभु से अवश्य सम्बन्ध जोड़ ले तथा हरेक परिस्थिति में प्रभु पर यह विश्वास रक्खे कि वे जो कुछ करते हैं, अच्छा ही करते हैं। उनके समान मेरा हित करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। वे यदि कष्ट देते हैं तो बड़ी भारी कृपा करते हैं। मुझसे शीघ्र मिलना चाहते हैं। मेरा हित किसमें है, यह वे ही जानते हैं और मेरे हित का ध्यान उनको मुझसे अधिक है।

एक महात्मा से किसीने पूछा-'क्या आप संन्यासी हैं? आपने उत्तर दिया-'लोग मुझे संन्यासी कहते हैं। वास्तव में संन्यासी तो वह है जो समस्त संकल्पों का त्याग कर देता है।' कितना निरभिमानता का सरल उत्तर है।

जब तक मनुष्य न तो सचमुच कुटुम्ब वालों का सम्बन्ध छोड़ता है और न अपने कर्त्तव्य का पालन ही करता है, तब तक उसका चित्त शुद्ध नहीं होता। शरीर, संसार और माने हुए साथियों

से सम्बन्ध टूटने पर ही अपने नित्य साथी प्रभु से सम्बन्ध जुड़ेगा।

अतः साधक को भगवान् से सम्बन्ध जोड़कर उनके नाते से समझना चाहिये कि सृष्टि के जितने भी प्राणी हैं, सभी मेरे प्रेम के अधिकारी हैं; क्योंकि यह सृष्टि मेरे प्रियतम की है, वही इसका स्वामी है। यह प्रभु से मिलने का मार्ग है।

यदि किसी के दोष दिखलायी दें ता भी समझे कि यह तो मेरे प्रभु का ही है। अतः इससे भी मुझे प्रेम करना चाहिये। सृष्टि के कण-कण से प्रेम करना चाहिए; क्योंकि यह सब भगवान की है।

इस भावना से चित्त शुद्ध होता है। साधक को जो काम कर्त्तव्य रूप से प्राप्त हो, उसे धीरज और उत्साह पूर्वक करे। उसमें अपने विवेक, स्नेह और शक्ति को भली भाँति लगाकर कुशलता के साथ करे। आलस्य पूर्वक अवहेलना से अथवा उतावलेपन से न करे। करते समय उकताये नहीं। गलत तरीके से किया हुआ काम कर्ता के चित्त को अशुद्ध बनाता है। जो काम सही तरीके से किया जाता है, उसके पूरा होने के बाद वैराग्य, निर्मलता, निर्विकल्पता मिलती है।

जैसे किसी के पैर में काँटा लग गया हो तो उसे निकाल देने पर शान्ति मिलती है। मल-मूत्र के त्याग से शान्ति मिलती है । इसी प्रकार हरेक काम सही तरीके से पूरा कर देने पर कर्म करने का वेग शान्त होता है, शान्ति मिलती है और चित्त शुद्ध होता है एवं व्यर्थ चिन्तन नहीं होता। चित्त शुद्ध होने पर द्वेष प्रेम में बदल जाता है और राग त्याग में बदल जाता है।

भक्त के जीवन में कर्म नहीं रहते, सेवा रहती है। वह आज्ञा पालन के द्वारा महापुरुषों की सेवा करता है, करुणा के द्वारा दुखियों की सेवा करता है। इसी प्रकार भगवान् के नाते सबकी सेवा करता रहता है। विश्वास और प्रेम भगवान् से करता है।

(३५)

साधक को विचार करना चाहिये कि शरीर और संसार के

साथ सम्बन्ध जोड़ने से मुझे क्या मिला? विचार करने पर यही मालूम होगा कि दुःख और अभाव की अनुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला। जब यह बात समझ में आ जाय तो फिर उसे यह समझकर कि सभी सांसारिक वस्तुओं का त्याग अनिवार्य है, अवश्य होने वाला है। जब तक तन का नाश न हो जाय, तब तक शरीर और समस्त वस्तुओं को सेवा में लगा देना चाहिये, यही उनका अच्छे-से-अच्छा उपयोग है। वस्तु, शरीर और मन का ठीक-ठीक उपयोग करने से नित्य और अनन्त आनन्द प्राप्त होता है, जो कि जीव की माँग है।

शरीर का, वस्तुओं का ठीक-ठीक उपयोग करना एक चीज है और उनको अपना मानना दूसरी चीज है। अपना मानने वाला, मोहयुक्त प्राणी उतना अच्छा उपयोग कभी नहीं कर सकता, जितना कि उन सबको भगवान् की वस्तु मानने वाला कर सकता है।

हिन्दू धर्म में उत्पन्न होने के नाते जिसने ईश्वर के सम्बन्ध में इतना सुना है कि वह ईश्वर को अस्वीकार नहीं कर सकता। वह कैसा है, इस मान्यता में भेद हो सकता है। अतः यदि कोई कहे कि ईश्वर तो निर्गुण और निर्विशेष है, वह तुमसे प्रेम कैसे करेगा? तो साधक को कह देना चाहिये कि भाई! मुझे तो ऐसे ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, मुझे तो वह ईश्वर चाहिये जो पतित-से-पतित प्राणी से प्रेम करता है। जो परम दयालु और सबका सुहृद् है। अपने प्रेमियों को प्रेम का रस दे देने के लिये ही अवतार लेकर नाना प्रकार की लीला करता है।

अवतार लेना हम लोगों की भाँति कर्म वश जन्म लेना नहीं है, भगवान अवतार लेने का मतलब प्रकट होना है। उनका शरीर त्रिगुण माया का कार्य नहीं होता; किंतु परम दिव्य चिन्मय होता है।

भिन्न-भिन्न परिस्थितियों को देखकर मनुष्य समझता है कि ईश्वर न्यायकारी है; परन्तु भक्तों का भगवान् केवल न्यायकारी ही नहीं है। वह प्रेमी और कृपालु भी है। सच्ची बात तो यह है कि न्याय के लिये ईश्वर को मानने की कोई जरूरत ही नहीं थी, कर्मानुसार

फल तो ईश्वर को न मानने वालों को भी मिलता ही है। न्यायकारी ईश्वर जीव से प्रेम क्यों करेगा और उससे क्यों मिलेगा; क्योंकि प्रेम और ईश्वरका मिलना किसी कर्म का फल नहीं हो सकता। कर्म का फल तो बार-बार जन्मना और मरना है। अतः जो संसार में ही रमण करना चाहते हैं, उससे ऊपर उठना नहीं चाहते उनके लिये ईश्वर न्यायकारी हैं। पर जो संसार से ऊपर उठना चाहते हैं, उनके लिये वह न्यायकारी नहीं, परम दयालु हैं।

यदि भगवान् बिना हेतु के दया करनेवाले और पतितपावन नहीं होते तो उनको कोई प्राप्त ही नहीं कर सकता; क्योंकि संसार में कौन ऐसा प्राणी है जो पतित न हो। कोई नहीं कह सकता कि मैं पतित नहीं हूँ । पतित का अर्थ है अपनी जगह पर ठीक-ठीक न रहने वाला। इस दृष्टि से हरेक मनुष्य पतित है।

जो विवेक के द्वारा शरीर से अपने को अलग अनुभव करके, कर्मों से सम्बन्ध त्याग कर, सद्गति प्राप्त करना चाहता है उसको भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती। सद्गति तो ईश्वर को न माननेवालों को भी मिल जाती है।

ईश्वर की आवश्यकता तो वास्तव में पतित प्राणीको ही है; क्योंकि भगवान् पतितपावन हैं। अतः साधक का काम है कि उसकी शरण हो जाय। किसी दूसरे को अपना न माने एवं किसी दूसरे की ओर आँख उठाकर न देखें। जो संसार उसका त्याग कर रहा है, उसे ठुकरा रहा है, उसकी आशा न करे।

शरणागत की समस्त आवश्यकताएँ अपने आप पूर्ण होती है। जैसे कोई फल खरीदने के लिये बगीचे में जाय तो उसे छाया और शुद्ध हवा मुफ्त मिल जाती है। उसे उसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता।

अतः साधक को चाहिये कि अपने को पतित जानकर और भगवान् को पतितपावन मान कर अपने को उनके समर्पित कर दे। सर्वतोभाव से उनका हो जाय। तभी चित्त शुद्ध होगा।

(३६)

साधक का अपने साधन में सद्भाव और प्रीति होनी चाहिये। चित्त की अशुद्धि के अनेक कारणों में से एक कारण यह भी है निर्दोष स्थिति में अपने को दोषी मानना। मन की और बालक की एक सी दशा होती है। अतः साधक को मन के साथ बच्चों का सा व्यवहार करना चाहिये। बालक के मन की सब बात पूरी करने से भी उसका हित नहीं होता और पूरी न करने की कहने से भी उसका सुधार नहीं होता। जो बात उसके हित की हो, पूरी की जा सके, उसे पूरी कर दो और जो पूरी करने योग्य न हो, उसको भुला देने के लिए कोई ऐसी दूसरी वस्तु उसको दे दो जो उसके लिये हितकर भी हो और रुचिकर भी। ऐसा करने से बालक का सुधार सुगमतासे हो सकेगा। उसको डराने-धमकाने से, लालच देने से या उसको सदैव बेवकूफ कहते रहने से उसका सुधार नहीं होगा, वह भयभीत, लालची और बेवकूफ बन जायेगा। कभी बुद्धिमान नहीं बनेगा। यही बात मन के लिये समझनी चाहिये।

मन को डराकर, धमकाकर दबाना नहीं चाहिये। उसकी जो इच्छा पूरी करने के लायक हो, उसे पूरी कर देना चाहिये। जो पूरी करने के लायक न हो, उसको भूल में डालकर या समझाकर मिटा देना चाहिये। बदले में कोई अच्छी रुचिकर वस्तु उसके सामने रखकर उसमें मनको लगा देना चाहिये। हर समय उसे दोषी न समझकर उसको अच्छाई दिखाते रहना चाहिये।

मन में अपना बल नहीं है, वह हमारी सत्ता पाकर बलवान् होता है और हमसे ही लड़ने लगता है तथा अपनी चाह पूरी करता है। अतः साधक को चाहिये कि मन को अपने साथ मिला कर उसे सत्ता न दे, अपने को उससे अलग रखकर बालक की भाँति उसका सुधार करे। मन के साथ तद्रूप हो जाने के कारण ही मनुष्य दोषों को जानकर भी मिटा नहीं सकता। मन में दोष आते और जाते रहते हैं। वह सदैव दोषी नहीं रहता। दोष प्राणी का स्वभाव नहीं है। इसलिये वह सदैव नहीं रह सकता। उसका उदय और अन्त अवश्य

होता है। निर्दोषता के साथ प्राणी की जातीय एकता है, अतः वह हर समय निर्दोषी रह सकता है। प्रकृति का स्वभाव दोषों को मिटाकर प्राणी को शुद्ध बनाते रहना है। इसलिये प्रकृति किसी को नीचे नहीं गिराती। प्राणी स्वयं ही दोषों का पोषण करके उनको बलवान् बना लेता है। दोष के कारण को मिटा देने से वह सुगमता से मिट सकता है। देह में मैं भाव और भोगों की चाह, यही दोषों की उत्पत्ति का कारण है।

अतः साधक को चाहिये जब दोष उत्पन्न हो, उस समय मन को दोषी समझे, दोष के निवृत्ति काल में उसको दोषी न समझे । उसको हर समय दोषी समझने से वह निर्दोष नहीं हो पाता। दोषी बना रहता है। निर्दोषता की स्थापना से दोष अपने आप मिट जाते हैं; क्योंकि निर्दोषता प्राणी का स्वभाव और जीवन की आवश्यकता है।

जैसे शरीर का नीरोग रहना स्वाभाविक है, अतः वह सदैव नीरोग रह सकता है। बीमारी सदैव नहीं रहती, आती और चली जाती है। इसी प्रकार दोष भी सदैव नहीं रहते, आते हैं और चले जाते हैं। इनको मिटा देना कठिन नहीं है।

अतः साधक को चाहिये कि दोष काल में अपने को दोषी माने और उस समय दोष को देखकर भविष्य में उत्पन्न न होने देने का दृढ़ संकल्प करे। साधक को इस प्रकार विचार करना चाहिये कि 'दोष उत्पन्न होने के पहले मुझमें दोष नहीं था और मिट जाने के बाद भी नहीं रहेगा। अतः मैं स्वभाव से निर्दोष हूँ । फिर मुझमें दोष कैसे आ सकते हैं?' इस प्रकार निर्दोष काल में निर्दोषता की दृढ़ भावना करने से दोष मिट जाते हैं और उनकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती।

जिसको मनुष्य स्वीकार कर लेता है वह दृढ़ हो जाता है। जिसकी स्वीकृति नहीं रहती उसकी सत्ता मिट जाती है, यह नियम है; अतः जिसको मिटाना हो उसे अस्वीकार कर देना चाहिये।

झूठ न बोलने के काल में सभी सत्यवादी होते हैं। झूठ बोलकर समाप्त होते ही फिर सत्यवादी हो जाते हुँ, हर समय कोई मिथ्यावादी नहीं रहता, इसी प्रकार हरेक दोष के विषय में समझ लेना चाहिये।

यदि कोई कहे कि इससे तो अभिमान बढ़ेगा, तो वास्तव में ऐसी बात नहीं है; क्योंकि जो चीज अपने द्वारा की जाती है, उसी का अभिमान होता है। स्वाभाविकता का अभिमान नहीं होता, इस पर भी मान लो अभिमान हो भी तो भी दोष पूर्ण अभिमान से तो निर्दोषीपने का अभिमान अच्छा ही है।

मनुष्य सोचने लगता है कि भगवान् को प्राप्त करना बड़ा कठिन है, यह भूल है; क्योंकि भगवान्से हमारी देश-काल की दूरी नहीं है। वह हमारी ही जातिका है और अपने जीवन में उसको प्राप्त कर लेना परम आवश्यक है। भोगों की प्राप्ति अवश्य कठिन है; क्योंकि उसमें हम सर्वथा पराधीन हैं, उनसे हमारी किसी प्रकार भी एकता नहीं है।

यह ईश्वरीय विधान है कि जो चीज अत्यन्त आवश्यक होती है वह उतनी ही सुगमता से मिलती है। जैसे जवाहरात की मनुष्य को बहुत ही कम जरूरत है, अतः वह बड़ी कठिनता से किसी किसी को मिलता है और उसकी कीमत भी बहुत अधिक चुकानी पड़ती है तथा उसकी कीमत ठीक-ठीक आँकी भी नहीं जाती। उससे कुछ अधिक जरूरत स्वर्ण की है। उसके मिलने में जवाहरात की अपेक्षा कम कठिनाई है। उसकी कीमत भी समय के अनुसार निश्चित रहती है। उससे अधिक जरूरत चाँदी की है। वह सुवर्ण की अपेक्षा सस्ती और सुगमता से मिलती है। उससे अधिक अपेक्षा खाद्य पदार्थों की है। अतः वे चाँदी से सस्ते और सुगमता से मिलते हैं। उससे भी अधिक आवश्यकता जलकी है। उसके बिना प्राणी जी नहीं सकता। अतः अन्न की की अपेक्षा जल बहुत सुगमता से मिलता है। जल से भी अधिक आवश्यक सूर्य का तेज और हवा है। वह अपने स्थान पर अपने आप मिलते रहते हैं। उससे अत्यंत आवश्यक

आकाश है। वह पाञ्चभौतिक शरीर से कभी अलग नहीं होता। सूर्य की रोशनी और गरमी के लिये तथा वायु और आकाश के लिये किसी को भी कोई मूल्य नहीं देना पड़ता। इन सबसे अधिक आवश्यक जीव के लिए भगवान् हैं। और उनसे किसी की भी दूरी नहीं है। फिर भी उनके मिलने में कठिनता का अनुभव करना, प्रमाद के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

अतः साधक को विश्वास करना चाहिये कि भगवान् मुझे इसी वर्तमान जीवन में ही अभी मिल सकते हैं। इसमें कोई कठिनता नहीं है। भगवान् के शरण होते ही भगवान् उसे तुरंत अपना लेते हैं। उसके अनन्त जन्मों के दोष तुरंत मिटा देते हैं। मनुष्य के अभिमान ने ही उसे बाँध रक्खा है।

'मैं शरीर हूँ' यह मानना और संसार को चाहना-यही सब दोषों का मूल है। इनके मिटते ही सब दोष अपने-आप मिट जाते हैं। एक दोष से दूसरे दोष का सम्बन्ध है। इसी प्रकार एक गुण से भी दूसरे गुण का सम्बन्ध है। अतः एक दोष के मिटने से दूसरे सब दोष भी मिट जाते हैं। तथा एक गुण को अपनाने से दूसरे गुण भी अपने-आप आ जाते हैं।

मनुष्यमें बुराई के संस्कार रहते हैं। बुराई हर समय नहीं रहती, वह मिट जाती है। संसार की चाह मिटने से संस्कार भी अपने-आप मिट जाते हैं। वास्तव में चाह को मिटाने में कठिनाई नहीं है। उसे पूरी करने में बहुत कठिनाई है; क्योंकि संसार की सबसे अच्छी चीज किसी एक को ही मिल सकती है। सम्पूर्ण पृथ्वी का यदि कोई सम्राट् हो तो एक ही हो सकता है। हिंदुस्थान का प्राइम मिनिस्टर एक ही हो सकता है। सबसे अधिक धनवान् कोई एक ही हो सकता है। चाह करने वाले तो बहुत होते हैं, पर पूरी किसी एक की भी सर्वथा नहीं हो पाती। अभाव रहता है और प्राप्त वस्तु के वियोग का भय चाह युक्त व्यक्ति को सदैव रहता है। चाह की पूर्ति में प्राणी सदैव पराधीन है। इसलिये उसकी पूर्ति कठिन ही नहीं,

असम्भव है।

किन्तु चाह के त्याग में मनुष्य सदैव स्वतंत्र है। एक ही काल में अनेक चाहरहित मनुष्य आनन्द से रह सकते हैं। परंतु चाहयुक्त प्राणियों को एक दूसरे से भय रहता है। किसी चाह को लेकर तप या यज्ञादि कर्म करने वाले से इन्द्र भी सदैव डरता है कि कहीं मेरा अधिकार छीन न ले। परंतु चाहरहित को सभी चाहते हैं। सभी उससे प्यार करते हैं। किसी से कुछ चाहने वाले का पद-पद पर अनादर होता है। चाह रहित का कभी कहीं अनादर नहीं होता। सभी उसका आदर करते हैं उसको भगवान् की कृपा और जगत् का आशीर्वाद अपने-आप मिलता रहता है। अतः साधक को चाहिये कि भगवान् पर भरोसा करके चाह का त्याग कर दे। मैं शरीर हूँ, यह मिथ्या मान्यता ही चाह का कारण है। मैं शरीर नहीं हूँ, भगवान का हूँ ,यह विश्वास ही इसको मिटाने में पूर्ण समर्थ है।

इसी प्रकार वैराग्य प्राप्त करना, त्याग करना और भगवान् को प्राप्त करना भी सुगम है। वे सबको सुगमता से मिल सकते हैं। इसमें कोई कठिनाई नहीं है। धन और भोग-वस्तुओं को प्राप्त करने में कठिनाई है। त्याग में कोई कठिनाई नही है। राग का त्याग ही वैराग्य है। इसमें सभी स्वतंत्र हैं। विरागी से किसी को भय नहीं होता। अतः उसका कोई विरोधी नहीं रहता। जो कोई ईश्वर के लिये व्याकुल होता है, उसे ईश्वर तुरंत मिलते हैं। इसलिये उनका मिलना भी बड़ा सुगम है। उनकी अभिलाषा में ही प्रेम है। अतः साधक को चाहिये कि सब प्रकार की भोगवासना का त्याग करके भगवान् के लिये व्याकुल हो जाय और उनकी प्रसन्नता के लिये सबकी सेवा में, सबकी भलाई में लगा रहे।

संतों का कहना है कि 'जो तोकों काँटा बुवे, ताहि बोय तू फूल'। अतः साधक को चाहिये कि बुराई का उत्तर भलाई से दे। जो इस मूल मंत्र को जीवन में ढाल लेता है, वह महान् हो जाता है। राजा में न्याय होता है और साधु में प्रेम होता है।

बुराई के बदले बुराई न करना यह मनुष्यता है। बुराई के

बदले भलाई करना-यह साधुता है। दुःख से मनुष्य का चित्त शुद्ध होता है। जो सच्चा दुखी होता है, वह बड़ा सेवक होता है।

क्रोध से बड़ा भारी नुकसान होता है। बना-बनाया काम बिगड़ जाता है। वर्षों से बनाया हुआ काम एक क्षण में क्रोध के कारण बिगड़ जाता है। अतः साधक को कभी किसी पर क्रोध नहीं करना चाहिए।

चित्त शुद्ध होने से सब प्रकार की पूर्णता आ जाती है। योगी को योग, विचारशील को बोध और विश्वासीको प्रेम अपने-आप मिल जाता है।

(३७)

पहले यह बात कही गयी थी कि निर्दोषता की स्थापना से चित्त शुद्ध होता है; क्योंकि मनुष्य अपने को जैसा मानता है, वैसा ही बन जाता है। यह प्रकृति का नियम है।

प्रत्येक प्राणी को किसी-न-किसी प्रकार से भगवान् की आवश्यकता है; क्योंकि सभी ऐसा सुख चाहते हैं जिसमें दुःख न हो और जिसका कभी अभाव न हो। वह आनन्द भगवान् के अतिरिक्त कहीं नहीं है और वह तभी मिल सकता है जब चित्त शुद्ध हो जाय।

प्राणी को जितने भी सुख-दुःख मालूम होते हैं, उन सबका कारण चित्त की अशुद्धि है। जब तक चित्त अशुद्ध रहता है, तब तक उसमें अनेक प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। इच्छा की पूर्ति में सुख मालूम होता है और अपूर्ति में दुःख। एक इच्छा की पूर्ति होते ही दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार सदैव अभाव बना रहता है। यह सुख-दुःखमय जीवन मनुष्य के चित्त की अशुद्धिका परिणाम है।

मनुष्य धन क्यों चाहता है? जिन वस्तुओं की उसे जरूरत है वह धन से मिलती है। वस्तुओं की जरूरत क्यों है? भोग-इच्छा की पूर्ति के लिये। इच्छा की पूर्ति क्यों चाहता है? उसकी पूर्ति में सुख प्रतीत होता है। वस्तुओं के संयोग में सुख मालूम होता है, यही काम

है एवं काम ही लोभ है। अतः यह सिद्ध हुआ कि लोभ के कारण ही मनुष्य को धन की जरूरत होती है। लोभ न रहे तो धन की जरूरत नहीं रहती।

मनुष्य की आगे बढ़ने की, ऊपर उठने की रुचि स्वाभाविक है। जो वस्तु या परिस्थिति उसे प्राप्त है, उससे वह अच्छी चाहता है। जैसा मकान प्राप्त है, उससे अच्छा चाहता है वैसा मिल जाय तो उससे अच्छा चाहता है। जितना धन प्राप्त है, उससे अधिक चाहता है। जितनी भोग सामग्री प्राप्त है, उससे अच्छी और नाना प्रकार की वस्तुएँ चाहता है। जितना सम्मान प्राप्त है, उससे अधिक चाहता है। जो पद या अधिकार प्राप्त है, उससे ऊँचा अधिकार चाहता है। इस प्रकार कभी भी उसकी चाह का अन्त नहीं होता। आगे-से-आगे अभाव बना रहता है और अभाव के रहते कभी सुख नहीं मिल सकता।

जब किसी कारण से नुकसान हो जाता है, प्राप्त वस्तु और धन चला जाता है, तब चाहता है किसी तरह खर्च चलता रहे, अधिक नहीं, तो पहले वाली परिस्थिति ही प्राप्त हो जाय, तो मैं सुखी हो जाऊँगा। फिर यदि वह परिस्थिति प्राप्त हो जाती है तो उससे अधिक चाहने लग जाता है। इस प्रकार मनुष्य नाना प्रकारकी इच्छाओं के जाल में फँसा रहता है। वास्तव में वस्तुओं की प्राप्ति उसके सुख-दुःख का कारण नहीं है। चाहकी पूर्ति, सुख और नयी चाह का होना ही दुःख है एवं चाह की निवृत्ति ही सुख-दुःख से परे की स्थिति है और यही चित्त की शुद्धि है। मनुष्य को जो सुख किसी के दुःख से मिलता है, वह ठीक नहीं है; क्यों कि जिसका जन्म किसी के दुःख से होता है, उसका फल भी दुःख ही होगा। आम के बीज का फल भी आम ही होगा और बबूल के बीज का फल काँटा होगा। व्यापार के दो रूप होते हैं। एक तो वह सट्टे का व्यापार है जिसमें जुए की भाँति किसी एक का नुकसान ही दूसरे का लाभ होता है। इस बात को सभी जानते हैं कि सट्टे में धन बाहर से नहीं आता। सट्टा करने वालों में ही एक का नुकसान और दूसरे का

लाभ होता है। सट्टा करने वाले सभी लाभ की आशा से करते हैं, परंतु सबको लाभ नहीं हो सकता। इस व्यापार में किसी का दुःख ही दूसरे का सुख है, अतः यह व्यापार उचित नहीं है। दूसरा व्यापार वह है, जिसमें समाज की आवश्यकता पूरी करने के लिए वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जहाँ वस्तुएँ अधिक होती हैं, वहाँ से उस जगह पहँचायी जाती है, जहाँ उसकी आवश्यकता होती है। इस प्रकार जो व्यापार समाज की आवश्यकता पूरी करने के लिये किया जाता है, उसमें किसी का नुकसान नहीं होता। श्रम करने वाले से लेकर भोक्तातक सभी को सुख मिलता है। और व्यापारी को भी उसके परिश्रम के बदले में धन मिल जाता है। यह व्यापार ठीक है।

यदि मनुष्य दूसरों के दुःख को अपना ले, स्वयं दुःख लेकर दूसरों को सुख देने लग जाय तो उसका फल उसको नित्य आनन्द मिलेगा। विचार करने पर मालूम होगा कि मनुष्य को वस्तुओं की आवश्यकता शरीर के लिये होती है। शरीर का अन्तिम परिणाम क्या है ? मृत्यु। मृत्यु का परिणाम क्या है ? जन्म। जन्म में दुःख ओर मरने में दुःख। बीच में सुख और दुःख-यही शरीर का स्वरूप है। परंतु दुःख किसी को प्रिय नहीं है। सभी दुःख से ऊपर उठना चाहते हैं। सभी प्राणियों की यह स्वाभाविक माँग है।

साधक को विचार करना चाहिये कि इस माँग की, इस आवश्यकता की पूर्ति कैसे हो? दुख का कारण क्या है? जिसको मिटा देने से सदा के लिये दुःख का अभाव हो जाय। विचार करने पर मालूम होगा कि अपने से भिन्न दूसरों से आशा करना ही मनुष्य के दुख का खास कारण है। जीव का स्वरूप चिन्मय है, अतः सभी जड़ पदार्थ उससे भिन्न हैं। उन्हें अपने सुख का कारण समझकर उनकी आशा करना-उनको चाहना, यही दूसरे की आशा करना है। अतः किसी भी भोग पदार्थ की चाह रहते हुए दुःख का अन्त कभी नहीं हो सकता। मैं शरीर हूँ, इस देहाभिमान से भोगवासना का उदय हुआ है। इसके मिटते ही भोगवासना मिट जाती है। भोगवासना

के मिटते ही सब प्रकार के दुःख सदा के लिये मिट जाते हैं, चित्त शुद्ध और स्थिर हो जाता है। उसके होते ही प्रेम का उदय हो जाता है। और अनन्त नित्य-रसस्वरूप भगवान मिल जाते हैं।

अतः साधक को यह निश्चय करना चाहिये कि मैं चिन्मय होकर यदि जड़ वस्तुओं की आवश्यकता का अनुभव करूँ तो इससे बड़ी भूल और क्या होगी? अतः जो जड़ पदार्थ मुझे नहीं चाहते, मेरी आवश्यकता का अनुभव नहीं करते, मेरे बिना वे रह सकते हैं, तो मैं भी उनके बिना रह सकता हूँ। इसलिये मैं उनकी आवश्यकता का अनुभव नहीं करूँगा। इनकी इच्छा नहीं करूँगा। इस प्रकार की दृढ़ भावना करके जड़ से विमुख होते ही चिन्मय का दर्शन हो जाता है। यह नियम है।

दूसरे की जरूरत मानने का परिणाम ही बन्धन और दुःख है। अतः साधक को समझना चाहिये कि उसकी आवश्यकता तो एक मात्र प्रभु हैं, संसार नहीं। इस भावना से जब उसकी सब जरूरतें दूसरों की आवश्यकता बन जाती हैं, तब सभी उसकी आवश्यकता का अनुभव करने लगते हैं और वह महान् बन जाता है।

इच्छाओं के रहते हुए ईश्वर नहीं मिलता, अतः साधक को संसार की ममता और आशा छोड़कर एक मात्र ईश्वर का हो जाना चाहिये। एक मात्र ईश्वर ही मेरी आवश्यकता हैं, ऐसा अनुभव करना चाहिये।

संसार की आवश्यकता न रहना ही मुक्ति है। संसार की आवश्यकता को छोड़ने में किसी प्रकार की कठिनाई या पराधीनता नहीं है। वैसे ही ईश्वर की प्राप्ति में भी कोई कठिनाई या परिश्रम नहीं है। प्रभु की आवश्यकता का अनुभव करके उसके लिये व्याकुल होते ही वे मिल जाते हैं।

मनुष्य सोचता है कि अमुक स्थान में एकान्त में सुन्दर आश्रम बनाकर उसमें भजन-स्मरण करूँगा। इस प्रकार की आशा गलत है। उसे विचारना चाहिये कि जो काम मैं वर्तमान में नहीं करता, वह

भविष्य में कर सकूँगा- इसका क्या विश्वास है? यह तो केवल आशा-ही-आशा है। किसी के चाहने से अनुकूल परिस्थिति नहीं मिलती। अनुकूल संयोग का नाम ही भोग है। यह कर्म से मिलता है। बिना कर्म नहीं मिलता। अतः किसी भी अनुकूलता की आशा करना तो साधन में विघ्न है; क्योंकि ईश्वर की आवश्यकता के साथ-साथ दूसरी इच्छाओं के रहते ईश्वर नहीं मिलते। जिस चीज का चिन्तन भजन नहीं करने देता, उसकी प्राप्ति भजन में कैसे सहायक होगी ? शुभ कर्मों से उत्कृष्ट परिस्थिति मिल सकती है, भगवान् नहीं मिल सकते।

मनुष्य को उस सुख की आशा कभी नहीं करनी चाहिये, जिसकी प्राप्ति दूसरों के दुःख से होती है। उसकी माँग तो एक मात्र ईश्वर की ही होनी चाहिये।

ईश्वर की सृष्टि में किसी भी वस्तु की कमी नहीं है। मनुष्य की दरिद्रता का-उसके अभाव का कारण एक मात्र लोभ है। प्राप्त वस्तु का सदुपयोग न करना, दुरुपयोग करना तथा अप्राप्त को चाहना और उसका चिन्तन करना-यह लोभ का स्वरूप है। इसके रहते हुए बड़े-से-बड़ा धनवान् भी दरिद्र ही है। धन और ऐश्वर्य से अभिमान बढ़ता है। दूसरों से कामनापूर्ति की आशा छोड़ देने से निर्लोभता आती हैं। लोभ मिट जाने के बाद दरिद्रता नहीं रहती, वह अपने-आप मिट जाती है।

जब तक मनुष्य वस्तु-प्राप्ति की आशा और चिन्तन करता रहता है, तब तक वह उसे नहीं मिलती। जब वह प्राप्त वस्तु का उपयोग अपने सुख के लिये करने लग जाता है, तब वह नहीं रहती और उसका मिलना भी बंद हो जाता है। वस्तु का सदुपयोग करने से अर्थात् लोभ रहित होकर उससे दूसरों की सेवा करते रहने से वस्तु बिना इच्छा के अपने आप मिलती है-यह ईश्वर का विधान है। अपने साथियों के माथे दोष मँढ़ कर स्वयं अपने को निर्दोष बताना कभी उचित नहीं है; क्योंकि पहले अपने मन में दोष रहता है, तब साथियों में आता है।

के मिटते ही सब प्रकार के दुःख सदा के लिये मिट जाते हैं, चित्त शुद्ध और स्थिर हो जाता है। उसके होते ही प्रेम का उदय हो जाता है। और अनन्त नित्य-रसस्वरूप भगवान मिल जाते हैं।

अतः साधक को यह निश्चय करना चाहिये कि मैं चिन्मय होकर यदि जड़ वस्तुओं की आवश्यकता का अनुभव करूँ तो इससे बड़ी भूल और क्या होगी? अतः जो जड़ पदार्थ मुझे नहीं चाहते, मेरी आवश्यकता का अनुभव नहीं करते, मेरे बिना वे रह सकते हैं, तो मैं भी उनके बिना रह सकता हूँ। इसलिये मैं उनकी आवश्यकता का अनुभव नहीं करूँगा। इनकी इच्छा नहीं करूँगा। इस प्रकार की दृढ़ भावना करके जड़ से विमुख होते ही चिन्मय का दर्शन हो जाता है। यह नियम है।

दूसरे की जरूरत मानने का परिणाम ही बन्धन और दुःख है। अतः साधक को समझना चाहिये कि उसकी आवश्यकता तो एक मात्र प्रभु हैं, संसार नहीं। इस भावना से जब उसकी सब जरूरतें दूसरों की आवश्यकता बन जाती हैं, तब सभी उसकी आवश्यकता का अनुभव करने लगते हैं और वह महान् बन जाता है।

इच्छाओं के रहते हुए ईश्वर नहीं मिलता, अतः साधक को संसार की ममता और आशा छोड़कर एक मात्र ईश्वर का हो जाना चाहिये। एक मात्र ईश्वर ही मेरी आवश्यकता हैं, ऐसा अनुभव करना चाहिये।

संसार की आवश्यकता न रहना ही मुक्ति है। संसार की आवश्यकता को छोड़ने में किसी प्रकार की कठिनाई या पराधीनता नहीं है। वैसे ही ईश्वर की प्राप्ति में भी कोई कठिनाई या परिश्रम नहीं है। प्रभु की आवश्यकता का अनुभव करके उसके लिये व्याकुल होते ही वे मिल जाते हैं।

मनुष्य सोचता है कि अमुक स्थान में एकान्त में सुन्दर आश्रम बनाकर उसमें भजन-स्मरण करूँगा। इस प्रकार की आशा गलत है। उसे विचारना चाहिये कि जो काम मैं वर्तमान में नहीं करता, वह

भविष्य में कर सकूँगा- इसका क्या विश्वास है? यह तो केवल आशा-ही-आशा है। किसी के चाहने से अनुकूल परिस्थिति नहीं मिलती। अनुकूल संयोग का नाम ही भोग है। यह कर्म से मिलता है। बिना कर्म नहीं मिलता। अतः किसी भी अनुकूलता की आशा करना तो साधन में विघ्न है; क्योंकि ईश्वर की आवश्यकता के साथ-साथ दूसरी इच्छाओं के रहते ईश्वर नहीं मिलते। जिस चीज का चिन्तन भजन नहीं करने देता, उसकी प्राप्ति भजन में कैसे सहायक होगी ? शुभ कर्मों से उत्कृष्ट परिस्थिति मिल सकती है, भगवान् नहीं मिल सकते।

मनुष्य को उस सुख की आशा कभी नहीं करनी चाहिये, जिसकी प्राप्ति दूसरों के दुःख से होती है। उसकी माँग तो एक मात्र ईश्वर की ही होनी चाहिये।

ईश्वर की सृष्टि में किसी भी वस्तु की कमी नहीं है। मनुष्य की दरिद्रता का-उसके अभाव का कारण एक मात्र लोभ है। प्राप्त वस्तु का सदुपयोग न करना, दुरुपयोग करना तथा अप्राप्त को चाहना और उसका चिन्तन करना-यह लोभ का स्वरूप है। इसके रहते हुए बड़े-से-बड़ा धनवान् भी दरिद्र ही है। धन और ऐश्वर्य से अभिमान बढ़ता है। दूसरों से कामनापूर्ति की आशा छोड़ देने से निर्लोभता आती है। लोभ मिट जाने के बाद दरिद्रता नहीं रहती, वह अपने-आप मिट जाती है।

जब तक मनुष्य वस्तु-प्राप्ति की आशा और चिन्तन करता रहता है, तब तक वह उसे नहीं मिलती। जब वह प्राप्त वस्तु का उपयोग अपने सुख के लिये करने लग जाता है, तब वह नहीं रहती और उसका मिलना भी बंद हो जाता है। वस्तु का सदुपयोग करने से अर्थात् लोभ रहित होकर उससे दूसरों की सेवा करते रहने से वस्तु बिना इच्छा के अपने आप मिलती है-यह ईश्वर का विधान है। अपने साथियों के माथे दोष मँढ़ कर स्वयं अपने को निर्दोष बताना कभी उचित नहीं है; क्योंकि पहले अपने मन में दोष रहता है, तब साथियों में आता है।

भगवान् साधक के मन को देखते रहते हैं। मन में जरा-सा अभिमान या अन्तर आते ही वे अपनी लीला का दृश्य परिवर्तन कर देते हैं।

जब तक लोभ रहता है, तब तक निर्धनता रहेगी, एक अवगुण के आने पर दूसरे अपने आप आ जाते हैं। वस्तु के न रहने पर भी मनुष्य सुखपूर्वक रह सकता है। अतः लोभरहित होने में वह पराधीन नहीं है।

जीवन में उदारता न होने के कारण वस्तु का अभाव रहता है। जो अपने विवेक का अनादर नहीं करता, उसे संसार का नेतृत्व मिलता है।

साधक को वह काम करना चाहिये, जिससे दूसरों को हित हो, दूसरे प्रसन्न रहें और उनकी आवश्यकता पूरी हो। वस्तु प्राप्ति का उपाय उदारता और ईमानदारी है। प्राप्त वस्तु से स्वयं सुखभोग न करना-यही ईमानदारी है और उसे दूसरों के सुख में लगा देना-यही उदारता है।

दूसरों को दुःख देकर सुख न लेना, यही निर्लोभता की पहचान है। वस्तु के त्याग से और सदुपयोग से शान्ति मिलती है। चित्त शुद्ध होने पर किसी प्रकार का अभाव नहीं रहता। अतः साधक को चाहिये कि भगवान् की आवश्यकता को भोग की इच्छाओं में न बदले; किंतु भोगों की इच्छाओं को भगवान् की आवश्यकता में विलीन कर दे।

(३८)

साधक को चाहिये कि मन में जो दुःख हो, उसे गलत रास्ते से मिटाने की कोशिश न करे, उसे सही रास्ते से मिटावे। सही रास्ते से मिटाया हुआ दुःख सदा के लिये मिट जाता है।

साधक को अपना मन अपने पास नहीं रखना चाहिये। जिसके साथ प्रेम करना हो, उसके मन में अपना मन मिला देना चाहिये।

जैसे किसान खेत में एक दाना डालता है, तो उसका अनेक गुना अधिक होकर उसको मिलता है। इसी प्रकार यह दुनिया एक खेत है, इसमें जो वस्तु डाली जाती है, अर्थात् दूसरों को सुख पहुँचाने के लिये लगायी जाती है, वह डालने वाले को अनेक गुना अधिक होकर मिलती है।

जिसके द्वारा जो अच्छा या बुरा काम किया जाता है, वह करने वाले के ही काम आता है।

प्रेमी और प्रियतम, इन दोनों के मनकी बात तब पूरी होती है, जब दोनों के मन एक हो जायँ अर्थात् एक दूसरे के मन की बात पूरी करने में ही अपने मन की बात पूरी समझें; क्योंकि जब दोनों की आवश्यकता एक हो जाती है, तभी दोनों का मन एक होता है। आवश्यकता में भेद रहते हुए मन एक नहीं हो सकता।

वस्तु के लेने और देने में प्राणी स्वाधीन नहीं है। जो वस्तु वह जिसको देना चाहता है, उसको नहीं मिलती और जिसको नहीं देना चाहता, उसको मिल जाती है। वस्तु के मिलने और न मिलने में तो अदृष्ट की प्रधानता है, जिसको जो वस्तु मिलने वाली है, मिलेगी। जो नहीं मिलने वाली है, वह नहीं मिलेगी। वस्तु का लेन-देन प्रेमका या चित्तशुद्धिका कारण नहीं है, प्रेम का सम्बन्ध तो भाव से है।

प्रेम वही है, जो विभु अर्थात् असीम हो, किसी वस्तु व्यक्ति या परिस्थिति में बँधा हुआ न हो, जो सबके साथ समान भाव से हो। सीमित प्यार का नाम तो 'स्वार्थ' है। वह उसके साथ होता है, जिससे कुछ न कुछ लेने की आशा होती है। वह स्वार्थ यानी किसी से कुछ लेना या लेने की आशा रखना-यही चित्त की अशुद्धिका प्रधान कारण है।

जिससे कुछ मिलने की आशा होती है, उसके साथ तो पशु-पक्षी भी प्यार करते हैं। इसमें मनुष्य की क्या विशेषता है? जहाँ लेने की इच्छा रहती है, वहाँ प्रेम नहीं होता। वहाँ तो ईर्ष्या बढ़ती रहती है, एक दूसरे से आगे बढ़ना चाहता है अर्थात् मकान, सम्पत्ति और

भोग-सामग्रियों में एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्विता करता है, उपयोगिता करता है। यही प्रतियोगिता यदि इस बात को लेकर हो कि वह जितना भजन करता है, मैं उससे अधिक करूँगा; वह जितना त्याग करता है, मैं उससे अधिक करूँगा; वह जितनी सेवा करता है, मैं उससे अधिक करूँगा, तब तो मनुष्य को यह आगे बढ़ाने वाली होती है। किंतु जो प्रतियोगिता किसी वस्तु, मकान और आत्मख्याति को लेकर की जाती है, वह विकास का हेतु नहीं हो सकती, पतन में ही कारण बनती है।

कर्म कभी भी असीम नही होता, उसकी सीमा होती है, उसका विधान होता है। एवं उसका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार की परिस्थिति और मान्यतासे होता है। एवं परिस्थिति पहले से निश्चित होती है। इस कारण कर्म असीम नहीं हो सकता। परंतु प्रेम का सम्बन्ध, किसी भी क्रिया, पदार्थ और परिस्थिति से नहीं होता। अतः वह असीम होता है। जहाँ स्वार्थ होता है, वहाँ प्रेम नहीं होता, स्वार्थ के अभाव से ही प्रेम होता है।

स्वार्थ-त्याग ही वास्तव में त्याग है। अर्थात् जो वस्तु अपने पास हो, अपने अधिकार में हो, उसको छोड़ देना ही त्याग है। यदि कोई बिना माँगे मिलने वाली वस्तु का त्याग कर दे, तो वह त्याग नहीं है।

जब साधक की प्रत्येक चेष्टा प्रभु प्रेम के लिये ही होने लगे, तब उसका जीवन रसमय बन जाता है। क्रिया में भेद होना तो अनिवार्य है; क्योंकि क्रिया तो परिस्थिति और विधान के अनुसार होती है विधान मान्यता के अनुसार होता है। परंतु कर्म में भेद होने पर भी रस में भेद नहीं होना चाहिये।

प्रेम किसी भी कर्म के अधीन नहीं होता। वह किसी प्रकार की क्रिया में बँधता नहीं कि अमुक प्रकार की क्रिया या व्यवहार का नाम ही प्रेम है। भगवत्प्रेमी जिस प्रेम और श्रद्धा से किसी एक पर पुष्प चढ़ाता है, उसी प्रेम से दूसरे का महान् तिरस्कार भी कर सकता है। इस प्रकार क्रिया में विपरीतता रहने पर भी प्रेम बना रहता है। उसमें

किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता। चित्त शुद्ध होने पर जो असीम प्रेम होता है, उसकी ऐसी ही महिमा है।

प्रेमी तिरस्कार करता है, पर उस तिरस्कार करने में वैर या द्वेष भाव नहीं रहता, जैसे सूर्य फलके रस को चूस कर उसे सुखा देता है तथा अग्नि सबको भस्म कर देती है, तो भी वे हिंसक नहीं होते। उनके द्वारा होने वाला काम हिंसा नहीं कहलाता। उसी प्रकार प्रेमी के विषय में समझ लेना चाहिये।

जब तक मनुष्य अपने मन की बात पूरी करना चाहता है, तब तक उसमें छिपा हुआ हिंसा-भाव विद्यमान रहता है। कर्ता का भाव ही हिंसा और अहिंसा में कारण है, क्रिया नहीं। भाव से ही चित्त अशुद्ध होता है और भाव से ही शुद्ध होता है। अतः साधक को चाहिये कि जो कुछ करे, दूसरों के हित की भावना से अपने प्रभु की प्रसन्नता के लिये करे।

साधक को चाहिये कि या तो किसी को अपना न माने या सबको अपना माने; क्योंकि किसी को अपना मानने और किसीको पराया मानने से रागद्वेष होता है, प्रेम नहीं होता। राग-द्वेष के रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं होता।

दूसरों को सुखी देखकर प्रसन्नता हो और दुखियों के दुःख से करुणा हो, उनका दुःख सहा न जा सके, तो इससे मनुष्य का चित्त शुद्ध होता है।

अतः साधक को चाहिये कि अपना और पराया मानना ही हो तो सेवा करने के लिये, उनके मन की बात पूरी करने के लिये सबको अपना माने और अपनी इच्छापूर्ति के लिये किसी को अपना न माने, सबको पराया समझे।

यदि मनुष्य शरीर मिलने पर भी चित्त शुद्ध नहीं हुआ तो प्राणी को मिला ही क्या? चित्त का शुद्ध होना ही तो मानव-जीवन का पुरुषार्थ है। प्यार का भेद रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं होता। प्रीतिका भेद मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। अतः साधक को प्रेम का भेद

मिटा देना चाहिये। अपने प्यार को असीम अर्थात् व्यापक बना देना चाहिये। प्रभु सर्वत्र व्यापक है। अतः जो व्यापक प्रीति है, वही प्रभु से है। सीमित प्यार तो मोह है, जो चित्त को अशुद्ध करने वाला है।

जिनके मन में वस्तु का महत्व होता है, वे चीज के बिगड़ जाने का शोक करते हैं, अपनी असावधानी का शोक नहीं करते। इस बात को नहीं समझते कि वस्तु कुछ खराब नहीं होती, उसकी शक्ल बदल जाती है। एक घटना याद आ गयी। एक लड़का बड़ा चंचल था। उसको खाने के लिये खील-मखाना दिया गया। उसने उसमें से कुछ इधर-उधरबिखेर दिया। जब उससे कहा गया कि इनको खराब क्यों कर रहे हो, उसने उत्तर दिया कि 'वस्तु जितनी जल्दी खा लेने से खराब होती है, बिखेर देने से नहीं होती। बिखेरी हुई बस्तु को बिगड़ने में देर लगेगी।' हरेक वस्तु खायी जाने के बाद भी खाद बनती है, एवं इस प्रकार भी गल-सड़कर खाद ही बनती है। अतः वस्तु का बनना-बिगड़ना उसकी शकल बदलना है, अन्य कुछ नहीं। मनुष्य का यह शरीर जो बड़ा सुन्दर और उपयोगी दिखायी देता है, इसकी भी एक दिन खाद बन जायेगी।

इसी प्रकार जो मनुष्य वर्तमान के सुख में रमण करते हैं, उसके परिणाम को नहीं देखते, यह उनकी असावधानी या गलती है। इसका सुधार करना चाहिये क्योंकि जो वस्तु व्यक्ति और परिस्थितियों में सीमित प्यार किया जाता है। उससे व्यक्तिभाव, आसक्ति, बासना और बन्धन दृढ़ होते हैं तथा वह सीमित प्यार करने वाला भोगी और हिंसक बन जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी दोषों का मूल सीमित प्यार है। इसी प्रकार असीम प्रेम होने पर व्यक्तिभाव मिट जाता है अर्थात् देहाभिमान गल जाता है, राग मिटकर वैराग्य हो जाता है, वासना का नाश होकर निर्वासना आ जाती है। सब बन्धन टूटकर मुक्ति मिल जाती है। तथा अहिंसा, समता, मुदिता आदि सभी गुण अपने-आप आ जाते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ है कि सभी गुणों का मूल असीम प्यार है।

जहाँ प्रेम प्रकट हो जाता है, वहाँ इन्द्रियों के दरवाजे बंद हो

जाते हैं। कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और अन्तःकरण-इन सबकी एकता हो जाती है। इन सबका एक हो जाना अर्थात् सबका बुद्धि में विलीन हो जाना ही योग है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रेम का अर्थ ही अद्वैत अर्थात् एकता है और न्याय का अर्थ द्वैत है।

वस्तु तो जिसका जैसा अदृष्ट होगा, उसके अनुसार ही मिलेगी, किसी को वस्तु देना देने वाले के हाथ की बात नहीं है। परंतु प्यार के सभी हकदार हैं, प्यार सबको दिया जा सकता है। इसमें अदृष्ट की रुकावट नहीं चल सकती। अतः सीमित प्यार का अन्त करना ही मनुष्य का पुरुषार्थ है।

साधन को समझना चाहिये कि शरीर और संसार के न रहने पर भी मैं रहूँगा। अतः क्रिया और मान्यता में भेद होने पर भी मेरा किसी से प्यार का भेद न हो, सबके साथ अगाध और असीम प्रेम हो।

ईश्वर को मानना एक चीज है और उसके अनुसार अपना जीवन बना लेना दूसरी चीज है। केवल ईश्वर को मान ले, परंतु उसके साथ अपनत्व और प्रेम न हो तो जीवन नहीं बदलता।

किसी क्रिया, वस्तु और परिस्थिति के साथ सम्बन्ध जोड़ लेना ही प्रेम में भेद उत्पन्न करने का कारण है। अतः प्रेमी साधक को चाहिये कि क्रिया आदि के साथ अपना सम्बन्ध न रखे। भूल से बनाये हुए सम्बन्ध को छोड़कर समस्त क्रियाओं से अतीत हो जाय, एवं जैसा स्वाँग मिला है, उसके विधान के अनुरूप क्रिया करते हुए प्रेम में भेद न करे। ऐसा करने से साधक का चित्त बहुत शीघ्र शुद्ध हो जाता है।

(३६)

पहले यह बात कही गयी थी कि सीमित प्यार चित्त की अशुद्धिका कारण है। अब विचार यह करना है कि मनुष्य के जीवन में सीमित प्यार होता क्यों है? विचार करने पर यह मालूम होगा कि किसी न किसी प्रकार से दूसरे का बुरा चाहते रहने के कारण प्यार

असीम नहीं हो पाता; एकदेशीय-सीमित रहता है।

साधारणतया मनुष्य सोच सकता है कि मैं तो किसी का बुरा नहीं चाहता और किसी के साथ बुराई करता भी नहीं, तथापि मेरा प्रेम तो सीमित ही है। परंतु ऐसी बात नहीं है। जरा गम्भीरता से विचार करना चाहिये। जिनके साथ हमारा मतभेद है, साधन-पद्धति में भेद है, क्या उनके द्वारा किया जाने वाला प्रचार हमें बुरा नहीं मालूम होता? क्या उनकी उन्नति, उनका वैभव, उनका सम्मान हमको बुरा नहीं लगता? क्या उससे हमारे मन में ईर्ष्या का भाव नहीं आता ? इसी प्रकार क्या उनकी हार में, उनकी अवनति में और उनके अनादर में हम प्रसन्न नहीं होते ? यदि होते हैं तो समझना चाहिये कि यही उनका बुरा चाहना और चित्त की अशुद्धि है।

मान्यता, साधन-प्रणाली और आचरणों में भेद न हो, यह असम्भव है। श्रीलक्ष्मण जी भगवान् श्रीराम के अनन्य भक्त थे। भगवान् के विरोधी चाहे शंकर ही क्यों न हों उनसे भी वे लड़ने को तैयार रहते थे। तो भी उनकी मान्यता में भेद था। भगवान् श्रीराम समुद्र से रास्ता माँगते हैं; लक्ष्मण जी को यह पसंद नहीं है, परंतु उनके प्रेम में किंचिन्मात्र भी कमी नहीं है।

रुचि-भेद से और प्रकृति-भेद से आचार-व्यवहार और मान्यता में भेद होना स्वाभाविक है, इसका चित्त की शुद्धि और अशुद्धि पर कोई असर नहीं पड़ता; किंतु जब इनको लेकर प्यार में भेद हो जाता है अर्थात् जो हमारे मतका अनुयायी है, वह प्रिय मालूम होता है और जो उसे नहीं मानकर दूसरे कीं मान्यता का अनुसरण करता है, वह बुरा मालूम देता है; जो हमारे घर का, पड़ोस का, गाँव का, जिले का या देश का है, वह क्रम से न्यूनाधिक प्रिय लगता है और जो दूसरा है, वह अप्रिय लगता है; जो हमारी बात मानता है, हमारा सम्मान करता है, वह प्रिय लगता है; हमारी बात नहीं मानता, उससे विपरीत करता है, वह अप्रिय मालूम होता है। इसी प्रकार सम्प्रदाय के नाते, धर्म के नाते जो अपने विपक्षी की उन्नति से ईर्ष्या और अप्रियता का भाव होना एवं अवनति में प्रसन्नता का भाव होना है,

यही उनका बुरा चाहना है, यह मनुष्य के चित्त की शुद्धि नहीं होने देता।

साधक को चाहिये कि सबके भले की कामना करे। ऐसा न कर सके तो किसी का भी बुरा तो चाहे ही नहीं। मत में, स्वभाव में, व्यक्तित्व में चाहे कितना भी भेद क्यों न हो, उसे सहन करे। उस भेद का कोई प्रभाव प्रेम पर न पड़ने दे। उसे मानना चाहिये कि कर्म की और रुचि की एकता नहीं हो सकती, परंतु प्रीति की एकता मैं कर सकता हूँ यह भावना चित्त शुद्धि का सुन्दर उपाय है।

मनुष्य अपना दुःख कम करने के लिये दूसरों के दोष देखता रहता है। वह समझता है कि अमुक मान्यता के कारण समाज और देश की हानि होती है। अमुक धर्म या मत के मानने वालों में कोई भला या ईमानदार आदमी नहीं है। इस प्रकार की भावना चित्त को शुद्ध नहीं होने देती। इससे अपनी मान्यता का अभिमान और दूसरों की मान्यता के प्रति घृणा उत्पन्न होती है। जिससे साधक की प्रीति असीम और सम नहीं हो पाती।

साधक को समझना चाहिये कि सभी मेरे प्रियतम प्रभु के हैं और सबमें मेरे प्रभु विराजमान हैं; क्योंकि यह सब उन्हीं से उत्पन्न हुआ है, उन्ही में स्थित है और उन्हीं में विलीन हो जायगा, उन्हीं की सत्ता से इसकी सत्ता है। अतः जो जैसा भी है, है तो उन्हीं का। इस नाते सब अपने हैं। इस भाव को साधक कभी न भूले एवं उसे चाहिए कि भगवान् के नाते सबके साथ समान भाव से प्रेम करे। दूसरों को सुखी देखकर प्रसन्न हो। ईर्ष्या या द्वेष न करे। दूसरों को दुःखी देखकर स्वयं दुःखी हो जाय।

किसी के दुःख में आबद्ध होना और उसके दुःख से दुःखी होना एक नहीं है। दूसरे के दुःख में आबद्ध होना तो मोह है और दुःखी होना करुणा है।

जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है, उसका दूसरे पर बहुत प्रभाव पड़ता है। करुणाशील संत जब किसी को दुःखी देखता है,

तब उस दुःखी का दुःख तो उसके पास आ जाता है और उस संत की शान्ति और विवेक उसी दुःखी में चले जाते हैं, जिससे उसका दुःख मिट जाता है और वह प्रसन्न हो जाता है। उस दुःखी मनुष्य का दुःख संत में आकर उसी प्रकार भस्म हो जाता है, जैसे अग्नि में पड़ा हुआ काठ।

तारा जब बाली के मरने पर दुःखी होकर रोने लगी, विलाप करने लगी, तब उसके दुःख को देखकर करुणासिन्धु भगवान् श्रीराम का हृदय करुणा से भर गया। उन्होंने तारा को सान्त्वना दी, तत्त्व समझाया, तत्काल ही तारा का दुःख आनन्द में बदल गया। भगवान् का ज्ञान उसमें आ गया। यदि कहो कि श्रीराम तो साक्षात् ईश्वर थे, तो समझना चाहिये कि जब भगवान् अवतार लेकर लीला करते हैं, उस समय अपने में मनुष्य भाव का आरोप करके हमलोगों को सिखाने के लिये वैसे ही आचरण करते हैं, जिनका अनुकरण मनुष्य कर सके। यदि पराये दुःख से हृदय दुःखी न हो, उसमें करुणा भाव न उछले तो समझना चाहिये कि मेरा हृदय अपने दुःख से खाली नहीं है।

भगवान् पतितपावन हैं। अतः पतित से पतित प्राणी भी उनको अपना मानकर उनका हो सकता है। जो साधक भगवान् को अपना मानकर सर्वस्व उनके समर्पण कर देता है; वह उनकी वस्तु के साथ, उनकी प्रजा के साथ द्वेष या घृणा कैसे कर सकता है ? इस विषय में एक सती स्त्री की घटना याद आ गयी।

एक सती स्त्री थी। उसका पति तहसीलदार था। वह एक वेश्या से प्यार करता था। वह वेश्या एक दिन उनके घर पर आयी और उस सती स्त्री को एक जेवर पहने देखकर जेवर पर उसका मन चलायमान हो गया। उसने तहसीलदार से वह जेवर माँगा। तहसीलदार ने अपनी स्त्री से कहा, तो उस स्त्रीने बड़े हर्ष के साथ अपना जेवर उस वेश्या को दे दिया। इस बात का जब उसके भानजे को (भानजा था या देवर था या जेठ का लड़का था, ठीक याद नहीं) पता लगा और उसने कहा कि 'आपने यह क्या किया'

तब उसने उत्तर दिया कि 'तहसीलदार जी की वह बहुत प्यारी है, वे उससे बहुत प्यार करते हैं, उस जेवर को मेरे शरीर पर देखकर उनको जो प्रसन्नता होती थी, उसकी अपेक्षा उसके शरीर पर देखकर अधिक प्रसन्नता होगी। अतः जेवर देकर मैंने उन्हीं को प्रसन्न किया है। मैं उस जेवर का क्या करती ? इसका यह फल हुआ कि उधर तहसीलदार का शरीर लोग जलाने के लिये ले गये और इधर उस स्त्री का शरीर जल गया।

जो भक्त सभी वस्तुओं को भगवान् की समझते हैं और सबमें भगवान् को देखते हैं, उनका सबमें प्रेम हो जाता है। उनका किसी में राग-द्वेष नहीं होता।

एक कन्हैया नाम के भक्त थे। वे अपने को भगवान् कन्हैया का गुमास्ता मानते थे। एक दिन उनके घर पर डाकू आये और उनसे पूछा कि 'कन्हैया कहाँ है ?' उसने कहा-'क्या काम है? आपको क्या चाहिये ? मैं कन्हैया का गुमास्ता हूँ। 'डाकुओं ने कहा' हम तो डाकू हैं, धन चाहिये।' कन्हैया भक्त ने तिजोरी की चाभी उनको दे दी और कहा-'जितना चाहिये ले जाओ। आपका ही तो है।' डाकू उससे चाभी लेकर साठ हजार रुपये निकालकर ले गये। प्रातःकाल होने पर पुलिस ने पूछा कि 'क्या रात में तुम्हारे घर पर डाका पड़ा था? तो उसने कहा, 'डाका नहीं पड़ा। कन्हैया आया था, उसको जितने रुपयों की जरूरत थी, ले गया।'

इससे साधक को यह भाव लेना चाहिये कि जो कुछ है, सब मेरे प्रियतम प्रभु का है। इसीलिये सब मेरे हैं, कोई पराया नहीं है। सबका लक्ष्य एक हो सकता है, परंतु मान्यता और साधना एक नहीं होती; क्योंकि रुचि और योग्यता में भेद होता है। अतः साधक को किसी से यह नहीं कहना चाहिये कि तुम गलती पर हो, तुम्हारे सोने में खोट मिला हुआ है। उसे सोना कसने की कसौटी दे देनी चाहिये। विपक्षी की विजय पर हर्ष मानना चाहिये और पराजय पर दुःख मानना चाहिये। जो द्वेष रखता हो, उसके साथ भलाई करनी चाहिये।

एक कठजीभा नाम के स्वामी थे। एक पण्डित के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ में पण्डित हार गया। और उस दुःख से दुःखी होकर गंगा में डूब गया। उस दिन से स्वामी जी ने शास्त्रार्थ करना छोड़ दिया। उनको इतना दुःख हुआ कि अपनी जीभ को उन्होंने काठ में बंद कर लिया। उसी से उनका नाम (काष्ठजिह्वा) कठजीभा पड़ गया।

किसी का मरना, दुःखी या अपमानित होना और हारना यदि प्रिय मालूम होता हो तो समझना चाहिये कि चित्त अशुद्ध है। अपने सुख और दुःख में यदि समता न रह सके तो समझना चाहिये कि चित्त अशुद्ध है। विवाद में किसी पर विजय पाना हो तो अपना पक्ष स्थापित न करे, दूसरे पक्ष पर बार-बार संदेह करता रहे। पर यह साधक के लिये बढ़िया बात नहीं है।

जिसके चित्त में राग नहीं रहता उसका जीवन त्याग से भरपूर हो जाता है। जिसके चित्त में द्वेष नहीं रहता, उसका हृदय प्रेम से भर जाता है। जहाँ त्याग होता है, वहाँ मुक्ति आ जाती है और जहाँ प्रेम होता है, उसके जीवन में भक्ति आ जाती है।

शरीर, इन्द्रियाँ मन आदि से और घर से सम्बन्ध तोड़ देने पर प्रभु से सम्बन्ध जुड़ जाता है।

निर्बलता का *समूह ही संगठन* है, संगठन तोड़ने से सच्ची *एकता होती* है। संगठन से भलाई और बुराई दोनों ही होती हैं। अतः साधक को चाहिये कि सबके साथ प्यार की एकता करे, संगठन न करे अर्थात् दलबंदी न करे।

मतभेद ही विरोध है। ईश्वरवादी किसी से भी वैर नहीं कर सकता; क्योंकि सब प्रभु के हैं। तब वह किस से वैर करे, कैसे किसी से बिगाड़ करे और किसी को बुरा समझे।

प्रेम होने पर ही प्रेम की दृष्टि से सबमें प्रियतम का दर्शन होता है। अतः साधक को चाहिये कि इन्द्रियों की दृष्टि से अर्थात् राग-द्वेष की दृष्टि से ऊपर उठकर सबको प्रीति की दृष्टि से देखे।

जिसभावना के मूल में दार्शनिकता नहीं होती ,वह ठहर नहीं सकती। अतः साधक को समझना चाहिये कि जो कुछ है सब उनका है, वे मेरे हैं,वे इस सम्पूर्ण में और इससे परे भी हैं। ऐसा जान लेने पर चित्त सर्वथा शुद्ध होकर असीम प्रेम से भर जायगा।

(४०)

चित्त शुद्ध हो जाने पर वही होता है, जो होना चाहिये। वह नहीं होता, जो नहीं होना चाहिये। अतः प्रयत्न का अन्त हो जाता है। जब यह मालूम हो कि जो होना चाहिये, वह नहीं होता और जो नहीं होना चाहिये वह होता है, तब विचार करना चाहिये कि ऐसा क्यों होता है ?

विचार करने पर मालूम होगा कि माने हुए सम्बन्ध में सद्‌भाव कर लेने के कारण ऐसा होता है। मैं शरीर हूँ, ऐसा मान लेने के कारण अनेक प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। उनकी पूर्ति के लिये मनुष्य नाना प्रकार के कर्म करता है।

कर्म करने के लिये सामर्थ्य और उसके विधान की आवश्यकता होती है। जो जैसा कर्म करता है,उसको विधान के अनुसार फल मिलता है। इसके लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती।

कर्म करने की शक्ति का केन्द्र प्राण है। उसी से समस्त शरीर और इन्द्रियों में करने की सामर्थ्य आती है और मन में करने का संकल्प उत्पन्न होता है। संकल्प और शक्ति-इन दोनों के मेल से कर्म होता है।

जो साधक मन और प्राण से अलग हो जाता है, वह करने से और इसके फलरूप सुख दुःख से मुक्त हो जाता है।

प्राणों का क्षय प्रतिक्षण होंता है, परंतु मन न तो बूढ़ा होता है और न उसका नाश ही होता है। मन के रहते हुए यानी वासना के रहते हए यदि प्राणों का अन्त हो जायगा तो उसकी पूर्ति के लिये पुनः प्राणों की जरूरत पड़ेगी। अतः नया शरीर धारण करना पड़ेगा। इस प्रकार जन्म-मृत्यु के चक्र से प्राणी कभी नहीं छूट सकेगा।

परंतु यदि प्राणों के रहते हुए मनका नाश कर दिया जाय तो सारी व्यवस्था बैठ जाती है। मन के नाश का मतलब है 'संकल्पों का अभाव।'

संकल्पों की उत्पत्ति माने हुए सम्बन्ध में सद्भाव होने पर होती है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं अमुक हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, इस प्रकार शरीर को मैं मानकर जो जाति, नाम, वर्ण, आश्रम आदि से सम्बन्ध जोड़ लेना है इसी का नाम माना हुआ सम्बन्ध है; क्योंकि यह सम्बन्ध वास्तविक नहीं है। जन्म से पहले और मरने के बाद इस प्रकार के सभी सम्बन्ध नहीं रहते। वर्तमान में भी माने हुए सम्बन्ध का परिवर्तन होता रहता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि माने हुए सम्बन्ध को तोड़ने से मन का नाश होगा। माना हुआ सम्बन्ध विचार-पूर्वक वास्तविक सम्बन्ध के बोध से या जिससे मनुष्य का नित्य सम्बन्ध है, उससे विश्वास पूर्वक सम्बन्ध मान लेने से टूटता है। अतः साधक को अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार देखना चाहिये कि वह विचार पूर्वक मनका नाश करना चाहता है या विश्वासपूर्वक ! यदि विचारपूर्वक मन का नाश करना हो, तब तो विवेक के द्वारा शरीर और संसार के स्वरूप का विवेचन करना चाहिये। विवेचन करने पर इसकी अनित्यता, असारता और जड़ता का अनुभव होते ही माना हुआ सम्बन्ध अपने आप मिट जायगा और मन का अर्थात् संकल्पों का अभाव हो जायगा।

यदि विश्वास पूर्वक मन का नाश करना है, तो जिस प्रभु के साथ प्राणी का नित्य सम्बन्ध है, जो कभी इसका सम्बन्ध नहीं छोड़ता उससे विश्वासपूर्वक सम्बन्ध का अनुभव करना होगा। जिससे सम्बन्ध होता है, उससे प्यार अवश्य होता है।

साधक को चाहिये कि ईश्वर है और वह मेरा है, यह दृढ़ विश्वास करे। ईश्वर और जीव का सम्बन्ध नित्य है, जो उसको अपना स्वामी मानता है, उसका वह स्वामी है। जो पुत्र मानता है, उसका पुत्र है। जो सखा मानता है, उसका सखा है। जो प्रियतम

मानता है, उसका वह प्रियतम है। ईश्वर के साथ जीव का हरेक सम्बन्ध है, इसलिये किसी प्रकार का सम्बन्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

यदि कोई समझे कि 'भगवान् को मित्र कैसे मानें ? कहाँ तो हम एक तुच्छ प्राणी और कहाँ समस्त ब्रह्माण्ड के कर्ता-हर्ता ईश्वर? उनसे हमारी मित्रता कैसे हो सकती है ? हम तो एक बड़े अधिकारी को या राजा को भी मित्र नहीं कह सकते।' तो ऐसी बात नहीं है। भगवान् साधारण अधिकारी और राजाओं की भाँति ऐश्वर्य के अभिमानी नहीं हैं। उनमें बड़े-छोटे का भाव नहीं है। वे तो सर्वसमर्थ और सर्वथा परिपूर्ण हैं। उनमें ऐश्वर्य के साथ-साथ माधुर्य भी पूर्ण है। जो उनको अपना मानता है, वह चाहे कैसा ही क्यों न हो, उसे अपना लेना उनका स्वभाव है। भगवान् की इस महिमा पर दृढ़ विश्वास करके जो भाव साधक को प्रिय हो, उसी भाव को लेकर उसे भगवान् का हो जाना चाहिये।

मनुष्य भगवान् को अपना नहीं मानता, उनसे प्रेम नहीं करता, तब भी भगवान् तो उससे प्रेम करते हैं और उसे अपना मानते हैं, परंतु उस सम्बन्ध और प्रेम का जीव को तब तक अनुभव नहीं होता, जब तक वह शरीर और संसार को अपना मानता रहता है। साधक को भगवान् से सम्बन्ध जोड़ना नहीं है, उसका जो नित्य सम्बन्ध है, उसको स्वीकार कर लेना है।

यदि कोई कहे कि 'भगवान् हमारी भाँति शरीरधारी थोड़े ही हैं, जो हम उनको पुत्र, मित्र या पति मान लें, क्या वेदशास्त्रों में ऐसा प्रमाण है ?' तो उनको भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता को ध्यान में रखकर विचार करना चाहिये कि जो ईश्वर इस विचित्र जगत् की रचना, पालन और संहार कर सकता है, उसके लिये कौन सी बात असम्भव है? वेद में भी तो भगवान को जीव का सहज सखा बतलाया है। मित्र जब मित्र की सेवा करता है तब दास्यभाव, जब उसे भोजन कराता है तब वात्सल्यभाव, जब सलाह देता है तब मित्र भाव और जब संकोच छोड़कर परस्पर प्रेम करता है, तब माधुर्यभाव

रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राणी अपने नित्य सम्बन्धी के साथ चाहे जिस भाव से सम्बन्ध मान सकता है।

संसार से अलग होना निश्चित है। इससे अलग होकर चाहे तो हम अकेले हो जायँ, चाहे किसी से सम्बन्ध जोड़ लें। परंतु अकेले में दुःखों का अभाव और नित्य जीवन प्राप्त होने पर भी अखण्ड और अनन्त रस की अनुभूति नहीं होगी, उस रस की अनुभूति के लिये उसे भी अपने आपको उसके समर्पण करना पड़ेगा, जो नित्य शुद्ध- बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्दघन हैं।

मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से, वस्तुओं से और परिस्थितियों से सम्बन्ध जोड़कर उनको अपना मानकर प्यार करता है। वे सब मिलकर भी इसकी को इच्छाओं पूरी नहीं कर सकते। जिस अंश में उनके द्वारा इच्छाएँ पूरी होती दीखती हैं, वे भी रहतीं नहीं । तो भी वह इन सबसे निराश नही होता, इन्हीं से सुख की आशा करता रहता है, यही प्रमाद है। इसी से चित्त अशुद्ध हुआ है।

वास्तव में तो यह संसार प्राणी को ईश्वर से प्रेम करना और उनसे सम्बन्ध जोड़ना सिखाने वाला कालेज है। इससे यह शिक्षा लेकर कि प्राणी जिसको अपना मानता है, उसी से उसका प्यार होता है, ये साधक को चाहिय कि संसार से सर्वथा निराश होकर अपने नित्य सम्बन्धी को अपना मानकर एक मात्र उसी से प्रेम करे।

शरीर और संसार से सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिये तीन उपाय हैं।

१. शरीर और संसार क्षण भंगुर हैं, अतः अनित्य हैं, यह जानकर उनसे असंग हो जाना।

२. शरीर और संसार के अधिकार की रक्षा करते हुए अपने कर्त्तव्य-पालनद्वारा उनकी सेवा करके ऋण-मुक्त हो जाना एवं उन पर अपना कोई अधिकार न मानना और नया ऋण न लेना अर्थात् उनसे कुछ भी न चाहना।

३. शरीर और संसार से मेरा न तो जातीय सम्बन्ध है, न स्वरूप से ही सम्बन्ध है। इस रहस्य को समझकर, जिससे अपनी जातीय और स्वरूप की एकता है, जो अपना नित्य सम्बन्धी है, उसके भूले हुए सम्बन्ध को स्मरण कर लेना।

उपर्युक्त उपायों के द्वारा शरीर और संसार से सम्बन्ध-विच्छेद कर देना चाहिए। जब संसार स्वयं हमसे सम्बन्ध विच्छेद कर देगा और कर रहा है, तब फिर हम उससे सम्बन्ध की आशा क्यों करें ?

मनुष्य की समस्त आशाएँ संसार में किसी एक से पूरी नहीं हो सकतीं। अनेक व्यक्ति, वस्तु और परिस्थितियों से जो कुछ आशाओंकी पूर्ति होती है, वह भी स्थायी नहीं होती एवं उस सुख को लेने की आशा से मनुष्य की उनमें आसक्ति हो जाती है। परंतु भगवान् ऐसे हैं कि वे अकेले ही हमारी समस्त इच्छाओं को मिटाकर आवश्यकताओं की पूर्ति कर देते हैं। इस संसारसे विमुख होते ही मनुष्य उनके सम्मुख हो जाता है अर्थात् प्रभु का उसे साक्षात्कार हो जाता है!

इससे यह सिद्ध हुआ कि जन्मना, जीवित रहना, अभाव का अनुभव करते हुए सदैव दुःख भोगना, बीमार होना और मर जाना, फिर इसी चक्र में घूमते रहना, यह संसार का स्वरूप है। अतः शरीर और संसार से विमुख होकर उस नित्य सम्बन्धी परम सुहृद् प्रभु का हो जाना, उनकी शरण लेकर उनके समर्पित हो जाना, यही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है।

जब मनुष्य यह जान लेता है कि मेरा सम्बन्ध उस परमेश्वर से है, जो सबसे बड़ा, सबसे श्रेष्ठ और सबका स्वामी है, तब वह सर्वथा निर्भय और अभिमान-रहित हो जाता है। उसमें इतना गौरव आ जाता है कि किसी प्रकार की दीनता नहीं रहती है। वह अपने प्रभु की भाँति सबका सुहृद, प्रेमी और समस्त दिव्य गुणों से सम्पन्न बन जाता है।

साधक को या तो चिन्तनरहित होकर अचिन्त्य रहना चाहिये

या एक इष्ट का चिन्तन करते करते तन्मय हो जाना चाहिये।

कामना लेकर जो ईश्वर का भजन चिन्तन किया जाता है, वह कामना की पूर्ति होने पर या न होने पर ईश्वर से विमुखता प्रदान करता है। जैसे बच्चा माँ से पैसा माँगता है, जबतक माँ पैसा नहीं देती, तब तक तो माँ की ओर देखता रहता है। पैसा मिलते ही माँ से विमुख होकर भाग जाता है। यही हालत सकाम साधक की होती है।

इसी प्रकार जो भक्ति भगवान् के गुण, प्रभाव और ऐश्वर्य को लेकर की जाती है, वह भी वास्तविक प्रेम नहीं है। वह साधन भक्ति है। प्रेम तो वह है जो ईश्वर के साथ सम्बन्ध से होता है, जो उनको अपना मानने से होता है। वह चाहे जैसे हों, मुझसे प्रेम करें या न करें, दयालु हों चाहे निष्ठुर हों, परंतु मेरे हैं- इस भाव से ही सच्चा प्रेम होता है। जैसे विवाह के पहले सगाई करते समय देखा जाता है कि लड़का कैसा है, परंतु जब सम्बन्ध हो जाता है, तब तो वह अपना हो जाता है वह चाहे जैसा हो, सती स्त्री का तो वही सर्वस्व है। उसने तो उस पर अपने आपको निछावर कर दिया है। उसकी नजर गुण दोषों की ओर नहीं जाती ।

एक लड़की ने अपनी बहिन से पूछा-'जीजी, जीजाजी कैसे हैं?' उसने उत्तर दिया-'हट पगली, जो चीज अपनी होती है, क्या उसके लिये यह देखा जाता है कि वह कैसी है? जैसी भी है, वह तो अपनी है ! उसको देखना क्या ?'

पहले यह बात कही गयी थी कि संसार के साथ सम्बन्ध जोड़ने से और अपने नित्य सम्बन्धी प्रभु के सम्बन्ध को भूल जाने से चित्त अशुद्ध हुआ है।

अब विचार यह करना है कि प्राणी का सम्बन्ध किसी के साथ क्यों जुड़ता है और क्यों टूटता है? विचार करने पर मालूम होगा कि खास तौर पर तीन कारण से सम्बन्ध जुड़ता है-

१. रुचि से अर्थात् जो मन को प्रिय लगता है, उससे।

२. अभाव की पूर्ति की आशा से।

३. संदेह रहित होने से।

जिसमें मनुष्य की रुचि नहीं रहती, जिससे अभाव की पूर्ति की आशा नहीं रहती और जिसमें संदेह हो जाता है, उससे सम्बन्ध टूट जाता है। यह नियम है।

साधक को चाहिये कि अपने मन को समझाकर उसमें ऐसी रुचि उत्पन्न करे कि जो वास्तव में हितकर हो, जिसमें किसी प्रकार का संदेह न हो।

दूसरों को समझाने के लिये तो सभी संदेह रहित होते हैं। परंतु उससे काम नहीं होता। जरूरत तो अपना संदेह दूर करने की है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही रुचि को लेकर होती हैं। आंशिक रुचि को लेकर मनुष्य प्रवृत्त होता है। फिर उससे अभाव की पूर्ति न देखकर या किसी प्रकार का संदेह उत्पन्न हो जाने पर उससे निवृत्त हो जाता है। जब प्रवृत्ति नहीं होती, तब निवृत्ति होती है-यह नियम है।

मन की आसक्ति का नाम रुचि है। जिस रुचि के साथ विवेक का प्रकाश नहीं होता, वह मनुष्य की भारी दुर्दशा करती है, अतः साधक को चाहिये कि मन की रुचि को विवेक के प्रकाश में देखे और उसे निर्दोष बनावे।

मनुष्य के मन की बात पूरी होने पर उसमें मनुष्य की आसक्ति हो जाती है और उसे वह जीवन सुख रूप प्रतीत होता है, परंतु उस रुचि कर परिस्थितिसे युक्त सुखी जीवन में भजन साधन नहीं होता, प्राणी उसी में फँस जाता है।

इसी प्रकार अरुचिकर परिस्थितिमें भी भजन-साधन नहीं होता। उस समय प्राणी रुचिकर परिस्थिति की आशा करके उसके चिन्तन में लग जाता है।

मन की आसक्ति का नाम रुचि है। इसकी उत्पत्ति अभ्यास से होती है, विवेक से इसका परिवर्तन होता है।

अतः साधक को चाहिये कि अपने अभाव को ठीक-ठीक समझे और उसकी पूर्तिका जो असली उपाय है, उसकी खोज करे। विचार करने पर मालूम होगा कि जो अनुकूलता प्राप्त है, वह अवश्य चली जायगी और प्रतिकूलता आ जायगी। यह मालूम होते ही संयोग काल में ही वियोग का दुःख दीखने लगेगा और यह अनुभव होगा कि संसार की कोई भी परिस्थिति अभाव की पूर्ति नहीं कर सकती। तब संसार के सम्बन्ध से रुचि हटेगी।

शरीर और संसार से सम्बन्ध मान लेने पर अधिकार-लिप्सा की जागृति होती है। अधिकार-लिप्सा पूरी न होने पर द्वेष और पूरी होने पर राग उत्पन्न होता है। यह राग-द्वेष ही चित्तकी अशुद्धि के मूल कारण हैं।

अतः साधक को चाहिये कि अपना कोई अधिकार न माने। अधिकार छोड़कर चाहे जहाँ रहे, उसे क्षोभ नहीं होता। वह दूसरों को प्यारा लगता है। अधिकार रखने वाला किसी को प्यारा नहीं लगता।

जो मनुष्य सदैव दूसरे के कर्त्तव्य पर दृष्टि रखता है, उससे भजन नहीं होता; क्योंकि दूसरा अपना कर्त्तव्य पालन करे या न करे, यह उसके हाथ की बात नहीं है। अतः साधक को चाहिये कि दूसरे से किसी प्रकार की आशा न करे और दूसरों के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा करते हुए भगवान् के नाते उनको हित पूर्वक सुख देता रहे।

जो मनुष्य यह सोचता है कि अमुक काम पूरा हो जाने पर या अमुक प्रकार की परिस्थिति प्राप्त होने पर भजन करूँगा, वह भजन नहीं कर सकता; क्योंकि जिस परिस्थिति की आशा और चिन्तन उसे भजन नहीं करने देते, वह प्राप्त होने पर कैसे भजन करने देगी? भजन-साधन वही कर सकता है, जो यह निश्चय कर ले कि मुझे तो इसी परिस्थिति में भजन करना है, जो प्राप्त है।

साधक को चाहिये कि प्रतिकूलता में भयभीत न हो और अनुकूलता की आशा न करे एवं जो परिस्थिति प्राप्त है उसी का सदुपयोग करते हुए अपने लक्ष्य की पूर्ति में लग जाय। साधक को समझना चाहिये कि प्रतिकूलता तो संसार से वैराग्य उत्पन्न करके लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक है और अनुकूलता रात की भाँति विश्राम प्रदान करती है। प्रतिकूलता और अनुकूलता दिन और रात की भाँति आती जाती रहेंगी। ये रुक नहीं सकतीं। अतः मुझे इनमें द्वेष या आसक्ति करके फँसना नहीं है। इनका सदुपयोग करके इनसे अतीत का जीवन प्राप्त करना है।

जो काम अपनी प्रसन्नता के लिये किया जाता है, उसका नाम 'भोग' है । जो काम दूसरों की प्रसन्नता के लिये उनके हित की दृष्टि से किया जाता है, उसका नाम 'सेवा' है।

जो लोग अपने मन की बात पूरी करने के लिये काम करते हैं, वे कभी उसको पूरी नहीं कर सकते; क्योंकि मन में एक के बाद दूसरी इच्छा उत्पन्न होती रहती है, उसके अभाव की कभी पूर्ति नहीं होती। इसलिये साधक को चाहिये कि जो काम करे, सेवा के रूप में करे। ऐसा कोई काम न करे जिससे दूसरों का अहित होता हो। सेवा के रूप में काम करते समय जिसकी सेवा करे, उसकी रुचि को समझकर करे, अपने मन की रुचि के अनुरूप न करे। यदि सेवा करने वाला यह सोचे कि अमुक वस्तु में जीवनीशक्ति अधिक है, यह खाने से उसका अधिक हित होगा और खाने वाली की उस वस्तु पर रुचि न हो तो वैसा करने से सेवा नहीं होगी, क्योंकि उसके मन की बात न होने पर उसे जो क्रोध आयेगा उससे उसकी वर्तमान जीवनी शक्ति का नाश होगा।

यदि मनुष्य में दूसरे को प्रसन्न करने की अर्थात् उसके मन के अनुकूल सेवा करने की शक्ति न हो तो उसे चाहिये कि उस काम से साफ-साफ इन्कार कर दे। काम न करने से पाप नहीं लगता, उसे उलटा करने से लगता है।

जो लोग कहते हैं कि साधन में मन नहीं लगा, उनको

समझना चाहिये कि हमने अपनी रुचि, विश्वास और योग्यता के अनुरूप साधन का निर्माण नहीं किया है। साधन का निर्माण हो जाने के बाद उसमें मन न लगे या उससे लक्ष्य की प्राप्ति न हो, यह कभी नहीं हो सकता।

अतः साधक को चाहिये कि 'मैं साधन नहीं कर सकता या साधन में सफलता मिलना कठिन है' इस मान्यता को अपने जीवन से निकाल दे एवं यह निश्चय करे कि अब जैसी परिस्थिति प्राप्त है, उसी में साधन कर सकता हूँ और उसे मुझे अवश्य सफलता मिलेगी। साधन नहीं हो सकता, इस बात को सर्वथा झूठी समझे। दूसरों की बराबरी न करे। विवेक के प्रकाश में रुचि, विश्वास और योग्यता के अनुसार साधन का निर्माण करके साधन में तत्पर हो जाय।

जो साधन रुचिकर होता है, जिसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं होता, जिसमें यह विकल्परहित विश्वास होता है कि इससे मेरे समस्त अभाव मिटकर मुझे अपने साध्य की प्राप्ति हो जायगी, वह साधन साधक का जीवन बन जाता है। उसमें नित्य नया उत्साह और प्रेम बढ़ता रहता है।

साधक को चाहिये कि बलका, सुख का, निर्बलता का, दुःख का सदुपयोग करे अर्थात् जिस समय जो कुछ प्राप्त है, उसी का सदुपयोग करे। बीती हुई बातों का चिन्तन और भविष्य की आशा न करे। यदि निर्बलता का अनुभव हो तो संसार से सर्वथा निराश होकर परमेश्वर पर विश्वासपूर्वक निर्भर हो जाय।

शेखचिल्ली की भाँति मनोराज्य करने से कोई काम नहीं होता, प्रत्युत् मनुष्य संकल्पों के जाल में फँस जाता है। अतः मनुष्य को चाहिये कि जो काम कर सके, उसे सही तरीके से पूरा कर दे। जो न कर सके, उसे करने का संकल्प छोड़ दे। सभी परिस्थितियाँ कभी किसी भी मनुष्य के अनुकूल नहीं हो सकतीं। वह जिसको अपना प्यारा मानता है, वही उसके मन की बात पूरी नहीं होने देता, उसके प्रतिकूल करने लग जाता है। राजा दशरथ सबसे अधिक

कैकेयी से प्यार करते थे, वही उनके मन की बात पूरी होने में बाधक हो गयी।

अतः साधक को चाहिये कि दूसरों के मन की धर्मानुकूल बात को भगवान् के नाते पूरी करे। अपने मन को बदल दे या उसका नाश कर दे। ऐसा करने में हरेक परिस्थिति में रास्ता मिल जायगा, कोई कठिनाई नहीं रहेगी। अतः साधक को अपने मन की बात पूरी करने में शक्ति नहीं लगानी चाहिये।

जो कुछ होता है, वह उस सर्वान्तर्यामी, सबके सुहृद् प्रभु की सत्ता से होता है। अतः जब अपने मन की इच्छा के विपरीत हो, तब साधक को समझना चाहिये कि अब प्रभु अपने मन की बात पूरी कर रहे हैं। अतः वे शीघ्र ही मुझे अपनाने वाले हैं अपना प्रेम प्रदान करने वाले हैं। प्रत्येक परिस्थिति प्रभु का आदेश और संदेश है। उसका सदुपयोग करने में और प्रभु के मन में अपना मन मिला देने में ही अपना सब प्रकार से हित भरा हुआ है। यह सोचकर साधक को कभी भी अनुकूलता की आशा नहीं करनी चाहिये और प्रतिकूलता से भय नहीं करना चाहिये। सदैव अपने प्रभु पर ही निर्भर रहना चाहिये।

मानव जीवन साधन के लिये ही मिला है। साधन करने में मनुष्य सदैव स्वाधीन है। ठीक साधन करने से सफलता अवश्य होती है। अतः साधक के जीवन में भगवान् पर अविचल विश्वास होना चाहिये एवं साधन में नित्य नव-प्रेम और उत्साह बढ़ते रहना चाहिये। उसे कभी किसी भी परिस्थिति में निराश नहीं होना चाहिये। हर समय प्रभु की कृपा का दर्शन करते हुए उनके प्रेम में विभोर रहना चाहिये।

प्रश्नोत्तर

(१)

प्रश्न—कलके सत्संग में यह बात सुनी थी कि साधक को

अपनी निर्बलता और प्रभु की महिमा का ज्ञान होने से भगवान् में प्रेम और विश्वास बढ़ता है। अतः यह समझाने की कृपा करें कि साधक की निर्बलता क्या है और वह उसे कैसे समझे तथा भगवान् की महिमा क्या है और उसे किस प्रकार समझा जाय ?

उत्तर–मनुष्यमें सबसे बड़ी निर्बलता तो यह है कि वह जिसको करना बुरा समझता है, उसे कर डालता है और जिसे करना उचित समझता है, उसे नहीं कर पाता। भगवान् ने इसे सुचारु रूप से कर्म करने के लिये जो क्रियाशक्ति और विवेकशक्ति दी है, उसका यह सदुपयोग न करके दुरुपयोग करता है, तथापि भगवान् इतने उदार और दयालु हैं कि जब उन शक्तियों का ह्रास हो जाता है, तब सब कुछ जानते हुए भी उसके अपराध की ओर ध्यान न देकर बार-बार उसे वही शक्ति प्रदान करते रहते हैं। इस रहस्य को समझकर यदि साधक भगवान् से उनके द्वारा प्रदत्त शक्ति का सदुपयोग करनेका बल प्रदान करने के लिये प्रार्थना करे तो वह भी देने के लिये वे महान् उदार पभु सदैव तत्पर रहते हैं। भगवान् के इस भावको समझने वाला साधक उनमें प्रेम-विश्वास किये बिना रह ही कैसे सकता है ?

जो साधक भगवान् को अपना लेता है, उनसे प्रेम करना चाहता है, वह पतित है, महान् दुराचारी है या सदाचारी, उच्च वर्ण का है या नीच वर्ण-जाति-का इस बात का भगवान् जरा भी विचार नहीं करते। जो उनको चाहता है, उनके साथ प्रेम करना चाहता है वे उससे प्रेम करने के लिये सदैव उत्सुक रहते हैं। साधक उनसे जितना प्रेम करता है, वे उससे कितना अधिक प्रेम करते हैं-इसका वाणी द्वारा कोई वर्णन नहीं कर सकता। भगवान्‌की इस महिमा को समझने वाला साधक उनपर अपने को न्योछावर कर देने के सिवा और करेगा ही क्या।

इस प्रकार अपनी निर्बलता और भगवान् की महिमा के विषय में साधक को विचार करते रहना चाहिये।

(२)

प्रश्न—भगवान् की कृपा, जो सबपर सदैव है, उसका अनुभव कैसे हो ?

उत्तर—जिस साधक को अपने बल पुरुषार्थ पर भरोसा है,जो यह समझता है कि अपने कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त शक्ति के द्वारा साधन करके मैं अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लूँगा-उसे भगवत्कृपा का अनुभव नहीं होता। वैसे ही जो विचार मार्ग में विश्वास रखने वाला साधक विचार के द्वारा ही अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है-उसे भी भगवत्कृपा का अनुभव नहीं होता। भगवत्कृपा का अनुभव उस साधकको होता है जिसको उनकी कृपा पर पूर्ण विश्वास है। जो हर समय हरेक परिस्थिति में उनकी कृपा की ही बाट जोहता रहता है तथा उस साधक को भी भगवत्कृपा का अनुभव होता है जो यह मानता है कि मुझे जो कुछ विवेक प्राप्त है-वह भगवान् का ही प्रसाद है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ शरीर तथा अन्य समस्त साधन-सामग्री उन्हीं की है और उन्होंने ही कृपा पूर्वक इनका सदुपयोग करने के लिये इनको मुझे दिया है। उन्हीं की कृपा, प्रेरणा से साधन में मेरी प्रवृत्ति तथा प्रगति होती है और होगी। इस प्रकार जो अपने को भगवान्की कृपा का पात्र मानता है और उस मान्यता में भी भगवान् की कृपा को ही कारण समझता है उसे भगवत्कृपा का अनुभव अवश्य होता है।

(३)

प्रश्न—मन की एकाग्रता कैसे हो ?

उत्तर—मन की एकाग्रता के उपाय साधकों की प्रकृति, योग्यता और विश्वास के भेद से अनेक हैं। उनमें प्रधान साधन वैराग्य अर्थात् रागका अभाव है। अभ्यास से भी मनकी एकाग्रता होती है, परंतु केवल अभ्यास द्वारा की हुई एकाग्रता टिकती नहीं, पुनः चञ्चलता में बदल जाती है।

जब मनमें सब प्रकार की इच्छाओं का सर्वथा अभाव हो जाता

है। तब मनकी स्वाभाविक एकाग्रता प्राप्त होती है। और वही टिकती है।

जो मन की चंचलता से दुःखी होकर एक मात्र एकाग्रता का इच्छुक होता है, जब तक मन एकाग्र नहीं होता तब तक जिसको चैन नहीं पड़ता उसका मन भी अवश्य एकाग्र हो जाता है।

जो साधक किसी स्थिति की प्राप्ति के उद्देश्य से किसी वस्तु व्यक्ति, अथवा भाव में अपने मन को लगाकर कर्तृत्वभावपूर्वक मनको एकाग्र करने के लिये प्रयत्न करता है, उसका मन कालान्तर में एकाग्र नहीं रहता; क्योंकि कर्ता और भोक्ता भाव के रहते हुए जो स्थिति प्राप्त की जाती है, उसका अन्त अवश्य होता है-यह प्राकृतिक नियम है।

(४)

प्रश्न—जब साधक का देहाभिमान सर्वथा गल जाता है और उसका हृदय विशुद्ध प्रेम से भरा रहता है, उस समय उसके व्यवहार में क्या अन्तर हो जाता है ?

उत्तर—उसके सभी व्यवहार साधारण लोगों की अपेक्षा उलटे होते हैं। जहाँ लोगों का हरेक प्रवृत्ति में कोई-न-कोई स्वार्थ रहता है, किसी-न-किसी प्रकार की भोग-प्राप्ति की इच्छा रहती है-वहाँ उसकी सभी प्रवृत्तियाँ दूसरों की प्रसन्नता के लिये या यों कहना चाहिये कि भगवान्‌की प्रसन्नता के लिये ही होती हैं। उसमें अपना कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। लोक-व्यवहार में जिनके साथ परिचय या किसी प्रकार का सम्बन्ध है और जिनके साथ नहीं है, जो उसके साथ अच्छा बर्ताव करते हैं और जो प्रतिकूल करते हैं-उन सबमें उसका समान भाव से ही प्रेम रहता है, प्रेम का भेद नहीं रहता। कर्मका भेद रहते हुए भी प्रेम में विषमता नहीं होती। अतः वह सबका प्रिय बन जाता है। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में सहज ही दूसरों का हित निहित रहता है; इसलिये सभी उससे प्यार करते हैं। यह उसके ऊपर के आचार-व्यवहार की बात कही गयी है।

(५)

प्रश्न—जीते हुए मर जाना किसे कहते है ?

उत्तर—प्राणों के रहते हुए जो शरीर और संसार से सर्वथा सम्बन्धरहित हो जाना है- यही जीते हुए मर जाना है।

प्रश्न—प्रेम को चाहते हुए भी ऐसा प्रेम जो नित्य-नया बढ़ता रहे, नहीं होता, इसके लिये क्या करें ?

उत्तर—साधक को भगवत्प्रेम से कभी निराश नहीं होना चाहिये। जिसको प्रेम की चाह होती है, उसे प्रेम अवश्य मिलता है। प्रेम की भूमिका अनेक प्रकार की होती है। प्रेम की कभी पूर्णता नहीं होती।

इस कारण प्रेमी को हरेक अवस्था में प्रेम की कमी का बोध होता है। अतः यदि साधक इस भाव से अपने में प्रेम की कमी का अनुभव करता है, तब तो ऐसी बात नहीं है कि उसको सदैव नित्य-नया रहने वाला प्रेम प्राप्त नहीं हुआ; क्योंकि प्रेम का यह स्वभाव ही है। प्रेम अनन्त है। प्रेमास्पद प्रभु भी अनन्त हैं। प्रेम की लालसा भी अनन्त है। फिर जहाँ तीनों अनन्त हों, वहाँ पूर्णता कैसे हो?

यदि प्रेम की लालसा रहते हुए सचमुच प्रेम प्राप्त नहीं हुआ है, तो उसके न मिलने की गहरी वेदना होनी चाहिये। वह वेदना अवश्य ही प्रेम चाहने वाले को प्रेम की प्राप्ति करा देगी। यदि प्रेम की चाह भी है और उसके प्राप्त न होने की तीव्र वेदना नहीं है तो साधक को समझना चाहिये कि मेरे जीवन में किसी-न-किसी प्रकार का रस है, जो मुझे प्रेम से वंचित करने वाला है। विचार करने पर या तो किसी प्रकार के सद्गुण का रस, या किसी प्रकार के सदाचार का रस दिखलायी देगा; क्योंकि प्रेम चाहने वाले के मन में भोगवासना और भोगों का रस तो पहले ही मिट जाना चाहिये। जब तक भोगों में रस प्रतीत होता है, तब तक तो प्रेम की सच्ची चाह ही नहीं होती।

भगवत्प्रेमका मूल्य सद्गुण या सदाचार नहीं है। अतः उस प्रेम में हरेक मनुष्य का अधिकार है। पतित-से-पतित भी भगवान् का प्रेम प्राप्त कर सकता है। क्योंकि जिस प्रकार भक्तवत्सल होने के नाते

श्रीहरि अपने भक्त से स्नेह करते हैं, वैसे ही वे पतित पावन प्रभु अधमोद्धारक और दीनबन्धु भी तो हैं? अतः दीन, हीन पतितसे भी वे प्यार करते हैं। उसे भी वे अपने प्रेम का पात्र समझते हैं। वे मनुष्य से किसी सौन्दर्य या गुण के कारण प्रेम नहीं करते; क्योंकि अनन्त दिव्य सौन्दर्य, अनन्त दिव्य सद्‌गुणों के वे केन्द्र हैं। किसी ऐश्वर्य के कारण प्रभु प्रेम करते हों, ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि उनके समान ऐश्वर्य किसी के पास है ही नहीं। वे तो एक मात्र उसी से प्रेम करते हैं, जो उन पर विश्वास करके यह मान लेता है कि मैं उनका हूँ, वे मेरे हैं। बस, इसके अतिरिक्त भगवान् और कुछ नहीं चाहते, इसलिये हरेक मनुष्य उनके प्रेम का अधिकारी है।

प्रेम प्रदान करना या न करना प्रभु के हाथ की बात है। वे जब चाहें, जिसको चाहें, अपना प्रेम प्रदान करें अथवा न करें, इसमें साधक के वश की बात नहीं है, किंतु उनका प्रेम न मिलने से व्याकुलता और बेचैनी तो होनी ही चाहिये। छोटी-से-छोटी चाह पूरी न होने से मनुष्य दुःखी हो जाता है, व्याकुल हो जाता है। फिर जिसको भगवान् के प्रेम की लालसा है और प्रेम मिलता नहीं, वह चैन से कैसे रह सकता है ? उसकी वेदना को किसी भी भोग सद्‌गुण और सदाचार अथवा सद्‌गतिका सुख भी कैसे शान्त कर सकता है ?

जो सार्थक उत्कृष्ट भोगों की इच्छा रखते हुए भगवान् को अपनाते हैं, उनके मन की बात भगवान् से छिपी नहीं है। वे उनको उत्कृष्ट भोग प्रदान करने के द्वारा उनसे प्यार करते हैं। जो सद्‌गुण-सदाचार चाहते हैं, उनको सद्‌गुण-सदाचार देते हैं जो सद्‌गति चाहते हैं उन्हें सद्‌गति देते हैं। पर जो केवल उन्हीं को चाहते हैं, उनके प्रेम के भूखे हैं, जिन्हें किसी प्रकार के भोग, गुण, गतिसे रस नहीं मिलता, जिन्होंने उन सबके रस का भी परित्याग कर दिया है-उनको भगवान् अवश्य ही अपना प्रेम प्रदान करते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।

प्रेमी अपने प्रेमास्पद से किसी प्रकार का सुख नहीं चाहता।

वह तो सदा उनके सुख में ही सुखी रहता है। उनको सुख प्रदान करने में, उनको रस देने में ही उसको रस मिलता है। इस कारण उसको जो कुछ भी शक्ति और ऐश्वर्य प्राप्त है, जो वास्तव में उन्हीं का दिया हुआ है, उन सबके द्वारा प्रेमी वही काम करता है, जो प्रेमास्पद प्रभु को प्रसन्न करनेवाला हो। प्रेमी अपने आपको भगवान्‌की प्रसन्नता के लिये-उनको सुख देने के लिए ही समर्पण कर देता है। उसका दूसरा कोई भी लक्ष्य या उद्देश्य नहीं होता।

सब प्रकार के सुखों की इच्छा का त्याग करने से प्रेमी को अपने प्रेमास्पद से वह प्रेम-रस, जो नित्य नया रहता है, जिसकी कभी क्षति नहीं होती, कभी अन्त नहीं होता और जिसकी कभी पूर्ति नही होती, अनवरत मिलता रहता है।

(६)

प्रश्न—मनुष्य मरनेसे क्यों डरता है ?

उत्तर—शरीर को मैं मान लेने के कारण और मृत्यु की महिमा को न जानने के कारण ही मनुष्य मृत्यु से डरता है।

प्रश्न—मृत्यु की महिमा जानना क्या है ?

उत्तर—उत्पत्ति, स्थिति और मृत्यु अर्थात् लय-ये तीनों अलग अलग दीखते हैं, परंतु विचार करने पर मालूम होता है कि इनमें कोई भेद नही है। बाल्यावस्थाका विनाश और किशोरावस्था की उत्पत्ति की भाँति ही जवानी और बुढ़ापा आदि सभी अवस्थाओं का परिवर्तन हर समय होता रहता है। एक मृत्यु ही दूसरे नवीन जीवन का कारण बनती है। यदि संसार में कोई न मरे तो जनसंख्या इतनी बढ़ जाय कि रहने के लिये पृथ्वी पर कोई जगह ही न मिले और इतना दुःख बढ़ जाय कि कोई जीना पसंद न करे। अतः मृत्युकी भी आवश्यकता है और वह बहुत महत्त्व की चीज है।

एक शरीर का नाश होकर दूसरा नया शरीर मिलता है। अतः मृत्यु ही नवीन जीवन प्रदान करती है। यह समझने वाला बुद्धिमान् मनुष्य कभी मृत्यु से नहीं डरता, वरं उसका स्वागत करता है। जैसे

पुराने वस्त्र को उतार कर नया पहनने में किसी भी समझदार को डर नहीं लगता, वरं प्रसन्नता ही होती है; क्योंकि वह उसमें कोई हानि नहीं समझता, बल्कि लाभ ही समझता है। मृत्यु का डर उन्हीं प्राणियों को होता है-जो प्राणी वर्तमान स्थिति का सदुपयोग नहीं करते; क्योंकि वर्तमान के सदुपयोग से ही भविष्य उत्कृष्ट और आशाजनक बनता है। अतः जिन्होंने अपने भविष्य को उज्ज्वल बना लिया है, वे मृत्यु से भयभीत क्यों हों ? जिन्होंने वर्तमान का दुरुपयोग किया है, वे ही मृत्यु से भयभीत होते रहते हैं।

(७)

प्रश्न– जीव स्वाधीन है या पराधीन ?

उत्तर– ईश्वर के द्वारा दिये हुए विवेक का आदर करके प्राप्त शक्तिका सदुपयोग करनेमें जीव सर्वथा स्वतंत्र है। यह स्वतन्त्रता ईश्वर की दी हुई है इसके सिवा जीव सर्वथा परतंत्र है। अतः वास्तव में स्वाधीन उसी को कहा जा सकता है जो अपने प्राप्त विवेक का आदर करके सब प्रकार की चाह से रहित हो गया है; क्योंकि किसी प्रकार की चाह के रहते हुए कोई भी प्राणी अपने को स्वतंत्र नहीं कर सकता। जब तक मनुष्यका अन्तःकरण अपवित्र है, उसमें रागद्वेष और भोग वासना वर्तमान है, तबतक वह स्वाधीन नहीं है। जब तक वह जिस काम को करना उचित नहीं समझता, उसे करता रहता है और जिसे करना उचित समझता है, उसे नहीं कर पाता, तब तक वह स्वाधीन कैसा ? अतः प्राप्त का दुरुपयोग करने वाला भ्रमवश भले ही अपने को स्वाधीन समझे, पर वास्तव में वह पराधीन ही है।

जब तक मनुष्य अपनी प्रसन्नता का हेतु किसी दूसरे व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति और अवस्था को मानता रहता है, तब तक वह अपने जीवन में दीन, हीन और पराधीन ही बना रहता है। कभी भी स्वाधीनता का अनुभव नहीं कर सकता। प्राप्त विवेक का सदुपयोग करके अपने बनाये हुए दोषों को मिटाकर अन्तःकरण को शुद्ध कर

लेने में प्राणी सदैव स्वाधीन है। अतएव ऐसा करके वह प्रभु की कृपा से सब प्रकार की स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है; क्योंकि फिर उसकी प्रसन्नता किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रहती।

साधक को मानना चाहिये कि मनुष्य में जो विवेकशक्ति है, यह किसी कर्मका फल नहीं है। यह तो उस ईश्वर की देन है, जो बिना ही कारण अपने मधुर स्वभाव से प्रेरित होकर सब पर कृपा करता रहता है अर्थात् जो प्राणिमात्र का सुहृद् है। शरीर, इन्द्रिय और सम्पत्ति आदि को कर्मफल माना जा सकता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है; किन्तु विवेक किसी क्रिया द्वारा उत्पन्न होने वाला नहीं है। यह तो मनुष्य को प्रभु की कृपा से ही मिला है।

अतएव ईश्वर के दिये हुए विवेक का आदर करते हुए उसका सदुपयोग करना चाहिये। अर्थात् अविचारपूर्वक बनाये हुए अपने दोषों का निरीक्षण करके उनको हटाना चाहिये और चित्त की शुद्धि करके अपने प्रभु पर विश्वास करना चाहिये और अपने आपको उनके समर्पण करके उनके विशुद्ध प्रेमको प्राप्त करना चाहिये।

(८)

प्रश्न—मूर्ति पूजा कब तक करनी चाहिये ?

उत्तर—कोई भी आस्तिक भक्त मूर्ति की पूजा नहीं करता, वह मूर्ति में अपने इष्टदेव की पूजा करता है, इसलिये जब तक अपना भास रहे, तब तक अपने इष्ट की पूजा करते रहना चाहिये।

जब मनुष्य किसी पुस्तक या चिट्ठीको पढ़ता है, तब कागज या स्याहीको नहीं पढ़ता; किंतु उसमें लिखे हुए संकेत के द्वारा उसके अर्थ को पढ़ता है। कागज, स्याही और अक्षर तो उस अर्थ को समझानेके लिये चिन्ह मात्र हैं। अर्थ तो पढ़ने वाले की बुद्धि में परम्परा से विद्यमान है। इसी प्रकार भक्त मूर्ति को संकेत बनाकर अपने इष्ट की पूजा करता है, मूर्ति की पूजा नहीं करता।

इसी तरह गीता आदि में समझ लेना चाहिये। पढ़नेवाला उसे भगवान्‌की वाणी समझकर पढ़ता है और उसी भाव से उसका आदर करता है।

श्रीतुलसीदासजी रामनाम का जप करते थे तो उनके भाव में परमेश्वर और उसके पूर्ण ऐश्वर्य, माधुर्य आदि समस्त गुण नाम में भरे हुए थे। वे राम और ब्रह्म दोनों से नाम को बढ़कर मानते थे। उनके विषय में कोई भी यह नहीं कह सकता कि वे परमेश्वर का स्मरण नहीं कर रहे थे, शब्दमात्र का जप कर रहे थे। इससे साधकको यह समझ लेना चाहिये कि कोई भी साधन नीचे दर्जेका नहीं है।

जिस साधक को जो साधन प्रिय हो, अपनी योग्यता के अनुसार जिस साधन को वह सुगमतासे कर सके, जिसमें उसका पूर्ण विश्वास हो, किसी प्रकार का भी संदेह न रहे, वही साधन उसके लिए सर्वश्रेष्ठ है। किसी प्रकार का संदेह न रहने से साधक की बुद्धि साधन में लग जाती है। प्रेम होने से हृदय द्रवित हो जाता है। विश्वास होने के कारण मन में किसी प्रकारका विकल्प नहीं उठता। उसमें मन लग जाता है। अतः साधन में कोई छोटा-बड़ा नहीं है।

किसी भी साधक को यह नहीं समझना चाहिये कि 'मुझे अमुक प्रकार की योग्यता प्राप्त नहीं है, इसलिये मुझे भगवान् नहीं मिल सकते।' यह मानना भगवान्की महिमाको न जानकर उनकी कृपा का अनादर करना है, क्योंकि भगवान् अपनी कृपा से प्रेरित होकर ही साधक को मिलते हैं। उनकी कृपा प्राप्त करने का एकमात्र उपाय उनसे मिलनेकी उत्कण्ठा, उनके प्रेम की अतिशय लालसा ही है। धन, बल, सुन्दरता या किसी प्रकारके साधनके बलसे भगवान् नहीं मिल सकते। साधन उनका या उनके प्रेम का मूल्य नहीं है। साधन तो अपने बनाये हुए दोषों को मिटाने के लिये है, जो भगवान् द्वारा दी हुई योग्यता का सदुपयोग करनेमात्रसे होता है।

मनुष्य चाहे कैसा ही दीन हीन मलिन क्यों न हो, कितना ही बड़ा पातकी क्यों न हो, वह जैसा और जिस परिस्थिति में है, उसी में यदि विश्वासपूर्वक भगवान् का हो जाय और उनको पानेके लिये व्याकुल हो उठे, भगवान्के वियोगमें उसे किसी प्रकार चैन न पड़े,

तो भगवान् अवश्य मिल जाते हैं।

भगवान् उसी पतित को मिलते हैं, जो पतित नहीं रहना चाहता अर्थात् पुनः पाप नहीं करना चाहता। ऐसे साधक को भगवान् परम पवित्र बनाकर अपना लेते हैं; परंतु जिसको अपने पापों का पश्चात्ताप नहीं है, जो उनको छोड़ना नहीं चाहता, उसे भगवान् नहीं मिलते। वैसे ही जिसको अपने गुणों का अभिमान होता है, उसे भी नहीं मिलते। साथ ही यह बात भी है कि जब तक साधक के मन में किसी दूसरी वस्तु की चाह रहती है, तब तक भगवान् नहीं मिलते। उसे उसकी चाहके अनुरूप वस्तु और परिस्थिति, यदि उसके पतन में हेतु न हो तो प्रदान कर देते हैं।

भगवान् की यह शर्त है कि मुझसे मिलने के बाद अन्य किसी से साधक नहीं मिल सकता ; परंतु ऐसा साधक कोई विरला ही होता है जो हर समय एकमात्र उन्हींसे मिलनेके लिये उत्सुक रहता हो, जिसके समस्त काम पूरे हो चुके हों, जिसके मन में अन्य किसी प्रकारके संयोग की चाह नहीं रही हो। अधिकांश मनुष्य तो अनेक प्रकारकी चाहों से घिरे रहते हैं। आज मुझे अमुक काम करना है, अमुक मित्र से मिलना है, अमुक स्थान में जाना है, उसके बाद वह करना है इत्यादि।

जिसमें अधिक योग्यता होती है, उसके लिये साधन भी अधिक कठिन होता है और कम योग्यतावालेके लिये साधन भी सहज सरल होता है। जैसे कोई धनी-मानी मनुष्य पुष्कर स्नान करने के लिये जाय, तो मोटर से या फर्स्ट क्लासमें यात्रा करके जाना पड़ता है। उसमें बहुत सा धन खर्च करना पड़ता है। वहाँ जाकर भी दान आदि में उसे बहुत सा धन देना पड़ता है; किंतु एक गरीब भिखारी या नौकर जाता है तो उल्टा उसे कुछ न कुछ मिलता है। खर्च कुछ भी नहीं करना पड़ता। पुष्कर-स्नान दोनोंको ही मिल जाता है। उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता।

जब तक साधक में किसी प्रकारके गुण-दोषका अभिमान रहता है तबतक भगवान् नहीं मिल सकते। इसलिये साधकको चाहिये कि

अपनेमें सद्‌गुणों के अभिमानको स्थान न दे और दोषोंकी उत्पत्ति न हो, बस, यही साधकका प्रयत्न है।

भगवान् को और उनके प्रेम को प्राप्त करने के लिये केवल सरल विश्वासपूर्वक उनसे सम्बन्ध होना चाहिये। किसी प्रकार के गुणका अभिमान नहीं हो और किसी प्रकारके दोष उत्पन्न न हों तो उस साधकसे भगवान् छिप नहीं सकते।

(६)

प्रश्न—स्वामी जी ! प्रेम तो सब एक ही है न, वह चाहे पुत्र में हो, चाहे अन्य किसीमें, प्रेम ही तो है ?

उत्तर—जो पुत्र और पति आदि में प्रियता होती है, वह प्रेम नहीं है, मोह है। उसी को राग और आसक्ति भी कहते हैं। प्रेम और मोह में बड़ा अन्तर है। जिसमें मोह होता है, जो मोहके कारण प्रिय लगता है, उसमें स्वार्थ भाव रहता है। उसमें एक दूसरे से किसी प्रकार का सुख लेने की चाह रखता है। किन्तु प्रेम में स्वार्थ के लिये कोई स्थान नहीं है। प्रेमी तो हर प्रकार से अपने प्रेमास्पद को सुख देने के लिये-अर्थात् उनकी प्रसन्नता के लिये ही प्रत्येक काम करता है। वह अपने प्रियतम के लिये सर्वस्व समर्पण कर देता है। प्रेमीका जीवन अपने प्रेमास्पद को सुख पहुँचाने के लिए ही होता है। अपने प्रियतम का सुख ही प्रेमीका सुख है। प्रियतम की प्रसन्नता ही उसकी प्रसन्नता है। प्रेमास्पद का प्रेमरस ही उसका अस्तित्व है, अपने लिये उसे अन्य किसी प्रकार के सुख की चाह नहीं रहती।

आप किसी भी प्रेमी भक्त की जीवनी पढ़िये । कहीं भी ऐसी घटना नहीं मिलेगी, जिसमें प्रेमी भक्त ने अपने प्रभु से अपने सुख के लिये कभी किसी प्रकार की माँग की हो। माँग पेश करने की बात तो दूर रही, वह तो देने पर भी कुछ स्वीकार नहीं करता। मात्र उनका प्रेम ही प्रेम चाहता है। अतः भगवान् स्वयं उसके प्रेमी बन जाते हैं। फिर भगवान् की सब चेष्टा भक्त को रस देन के लिए और भक्त की भगवान् को रस देने के लिये हुआ करती है। वियोगकाल

में भक्त भगवान् के विरह में व्याकुल रहता है और भगवान् भक्त के विरह में व्याकुल रहते हैं। इधर सीता राम के वियोग में व्याकुल है तो उधर राम सीता के वियोग में व्याकुल हैं। यही भक्त और भगवान् की दिव्य प्रेमलीला है।

(१०)

प्रश्न—गीता में निष्काम कर्म के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का उपाय बताया गया है। हम लोग गृहस्थ हैं। हम लोगों के लिऐ लौकिक उन्नति की चेष्टा करते हुए निष्काम कर्म करना बड़ा कठिन है, तो कैसे करना चाहिये?

उत्तर—लौकिक उन्नति और पारलौकिक उन्नति के अर्थात् भगवत्प्राप्ति के साधन अलग-अलग नहीं हैं। जो वास्तविक लौकिक उन्नति का साधन है, वही पारलौकिक उन्नति का भी साधन है। इन दोनों का भेद मानकर लोग अपने कर्त्तव्य में भूल कर बैठते हैं। वास्तव में लौकिक उन्नति वाला वही है कि जिसकी आवश्यकता दूसरों को हो जाय, संसार में जो बड़े आदमी समझे जाते हैं, वे भी जिसके पीछे-पीछे फिरते रहें और उनकी कोई वस्तु वह अपने उपयोग में ले ले तो लोग अपना अहोभाग्य समझें।

जो मनुष्य दूसरों से कुछ लेना चाहता है, अपने सुख का आधार दूसरों को मानता है, दूसरों से आशा लगाये रहता है, वह क्या उन्नतिशील कहा जा सकता है? वह तो चाहे कितना भी बड़ा वैभवशाली क्यों न हो, दरिद्र ही है। उन्नति शील तो वही है जो प्राप्त विवेक का आदर और बल का सदुपयोग करता है। दूसरों के हित में अपने तन, मन, धन को लगा देता है। लोभी मनुष्य कभी भी उन्नति शील नहीं हो सकता।

विचार करना चाहिये कि कर्म करने कर विधान किसलिये है? विचार करने पर मालूम होगा कि मनुष्य में जो क्रियाशक्ति का वेग है, उसकी जो कर्म करने में आसक्ति है, उसे मिटाने के लिये ही कर्मों का विधान है। अतः अपने स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार

जो कर्म कर्त्तव्य रूप से प्राप्त हुआ है, उसे खूब सावधानी के साथ उत्साहपूर्वक सांगोपांग पूरा कर दे; किंतु उस कर्म के फलरूप में प्राप्त होने वाले पदार्थों से अपना मूल्य अधिक समझें। उनके बदले में अपने आपको बेचे नहीं; क्योंकि जो कर्म से प्राप्त होने वाले फल से अपना मूल्य कम कर लेता है, उनके बदले में अपने को बेच देता है, वह न तो वास्तविक लौकिक उन्नति कर सकता है और न पारलौकिक उन्नति ही कर सकता है। वह उन वस्तुओं की दासता के कारण सदैव अभाव का ही अनुभव करता रहता है।

जो यह समझता है कि यदि मुझे कर्म से कुछ लेना ही नहीं है तो मैं कर्म क्यों करूँ, वह भी कर्म को ठीक ठीक नहीं कर सकता, आलसी बन जाता है। जो फल के लालच से कर्म करता है, उसका लक्ष्य भी कर्म की सुन्दरता पर नहीं रहता । अतः वह भी करने योग्य कर्म को ठीक-ठीक पूरा नहीं कर सकता। लोभ के वश में होकर वह उस कर्म में अनेक प्रकार की त्रुटियों का समावेश कर लेता है। कर्म को सांगोपांग तो वही कर सकता है, जिसके मन में फल का लोभ नहीं है, प्रत्युत् कर्त्तव्य-कर्म को सांगोपान पूरा करना ही जिसका उद्देश्य है।

कर्म का जो दृश्य फल है, वह तो कर्त्ता चाहेगा तो भी होगा और न चाहेगा तो भी होगा। चाहने और न चाहने से उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। जैसे भोजन करने से भूख की निवृत्ति तो दोनों की ही होगी; परंतु जो स्वाद के लालच से भोजन करेगा, वह कर्म-विधान के विपरीत वस्तुओं को खाकर उलटा अपना अहित कर लेगा। इसीप्रकार व्यापार में भी समझ लेना चाहिये। व्यापार में लाभ या हानि तो जो होनी है, वही होगी; परंतु जो मनुष्य लाभ के लालच से और हानि के भय से युक्त होकर व्यापार करेगा, वह उस व्यापार में उन नियमों को भी यथायोग्य पालन नहीं कर सकेगा, जिनका पालन करना लौकिक उन्नति की दृष्टि से आवश्यक है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि निष्काम कर्म में कोई कठिनाई नहीं है, प्रत्युत् सकाम की अपेक्षा निष्काम कर्म ही सुगम है और वही

लौकिक उन्नति का भी उपाय है।

जो सम्पत्तिशाली मनुष्य लोभ के वश होकर उस सम्पत्ति का सदुपयोग नहीं करता, उससे निर्धनों के अभाव की पूर्ति नहीं करता, वह लोक में भी उन्नतिशील नहीं माना जाता तथा जो निर्धन मनुष्य धन की कामना का त्याग नहीं करता, वह भी सुखी नहीं हो सकता। अतः लौकिक उन्नति के लिये भी सब प्रकार से कामना का त्याग आवश्यक है।

जो साधक अपने स्वभाव और परिस्थिति के अनुरूप कर्त्तव्य रूप से प्राप्त कर्म को बिना किसी प्रकार के फल की चाह के ठीक-ठीक पूरा कर देता है, जिस प्रकार उसे करना चाहिये, ठीक वैसे ही करता है, आलस्य या प्रमादवश उसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं करता; शौच जाना, स्नान करना, जीविका के कर्म करना, सेवारूप कर्म करना, भोजन करना, शयन करना आदि जितने भी आवश्यक कर्म हैं, सबको जो यथावश्यक समय पर भलीभाँति कुशलता और उत्साहपूर्वक पूरा कर देता है, उस कर्त्तव्य पालन से उसकी क्रिया शक्ति का वेग और कर्म करने की आसक्ति मिटती जाती है। चित्त शुद्ध हो जाता है। भोगवासना नष्ट हो जाती है। किसी प्रकार की चाह न रहने से चित्त निर्विकल्प हो जाता है। फिर योग से सामर्थ्य, विवेक से बोध और वैराग्य से भगवत्प्रेम की प्राप्ति होकर उसका परलोक भी सब प्रकार से सुधर जाता है।

प्रश्न—भगवान् ने गीता में कहा है कि शरीर रूप यन्त्र पर चढ़े हुए प्राणियों को उनके हृदय में स्थित परमेश्वर घुमाता है अर्थात् उनसे कर्म करवाता है, तब फिर उनका फल प्राणियों को क्यों भोगना पड़ता है?

उत्तर—क्रिया में और कर्म में अन्तर है। उस अन्तर को समझ लेने पर यह प्रश्न हल हो जायगा। जिसमें कोई कर्त्ता नहीं होता, जो किया नहीं जाता, अपने आप होता है; जैसे हवा से पेड़ों का हिलना आदि, वह तो क्रिया है और जो कर्त्ता बनकर राग द्वेषपूर्वक किया जाता है, वह कर्म है। अतः जिसका सचमुच यह भाव है कि जो कुछ

हो रहा है, वह ईश्वर की शक्ति और प्रेरणा से ही हो रहा है, मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस भाव से जो अपने को सर्वथा असंग समझ लेता है, न तो उस कर्म का कर्त्ता बनता है और न उसमें आसक्त होता है, वह भोक्ता भी नहीं होता। उसके द्वारा होने वाला कर्म वास्तव में कर्म नहीं है। वह तो क्रिया मात्र है। अतः उसका कोई फल नहीं बनता; किंतु जो मनुष्य स्वयं किसी कर्म का कर्त्ता बनकर उसे आसक्तिपूर्वक, किसी प्रकार की फल कामना से करता है, उसे उस कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है। जो कर्त्ता है, वही भोक्ता है।

प्रश्न—कुन्ती देवी सती मानी जाती हैं; किंतु सूर्य आदि देवताओं के द्वारा पुत्र उत्पन्न करने पर भी उनका सतीत्व अक्षुण्ण कैसे रहा? यह समझ में नहीं आता, अतः इसे समझाइये।

उत्तर—उस समय आजकलकी सी परिस्थिति नहीं थी। उन लोगों को धर्म का ज्ञान था और धर्म में निष्ठा थी। स्त्रियों के मुख्य दो धर्म माने गये हैं-एक तो सती धर्म, दूसरा साध्वीधर्म। सती धर्म तो वह है जिसमें पति को ही परमेश्वर मानकर सर्वस्व उसके समर्पण किया जाता है। और साध्वीधर्म वह है जिसमे परमेश्वर को ही पति मानकर सर्वस्व समर्पण किया जाता है। मीरा, गोपियाँ और उसी ढंग की अन्य स्त्रियाँ तो साध्वी धर्म का पालन करने वाली थीं। कुन्ती देवी सती धर्म का पालन करने वाली थी। सती स्त्री का एक पति के सिवा और कुछ भी अपना नहीं रहता। वह शरीर, घर आदि किसी पर अपना अधिकार नहीं मानती। सब कुछ पति का ही मानती है। वह जो कुछ करती है, पति के लिये ही करती है। पति की प्रसन्नता और हित ही एक मात्र उसका लक्ष्य होता है। कुन्ती के सामने परिस्थिति ऐसी थी कि शाप के भय से पाण्डु स्त्री-सहवास कर नहीं सकते। यदि करें तो उनकी मृत्यु हो जाय। पाण्डु के मन में पुत्र की वासना थी। अतः उन्होंने उस वासना से प्रेरित होकर जब कुन्ती से अपने मन की बात कही, तब कुन्ती ने पहले तो पति को विनय पूर्वक धर्म का तत्त्व समझाने की चेष्टा की। उस पर

भी जब उनकी वासना शान्त नहीं हुई, तब सब हाल कह सुनाया कि मुझे दुर्वासा से मन्त्र प्राप्त हुए हैं, उनके प्रभाव से मैं देवताओं को बुलाकर पुत्र उत्पन्न कर सकती हूँ ? इस पर पाण्डु ने आज्ञा दी कि तुम देवताओं से पुत्र उत्पन्न करो। इस परिस्थिति में कुन्ती ने बिना किसी भोग-वासना के एक मात्र पति की प्रसन्नता के लिये उनकी आज्ञा का पालन किया। इससे उसका सतीत्व क्षीण क्यों होता? उसने तो जो कुछ किया, वह सती धर्म का ही पालन किया। वह शरीर को अपना थोड़े ही मानती थी, । वह तो उस पर अपने पति का ही पूरा अधिकार मानती थी।

प्रश्न—कर्ण की उत्पत्ति के समय तो उसका विवाह नहीं हुआ था। उस समय उसका धर्म कैसे सुरक्षित रहा?

उत्तर—उस समय कुन्ती अविवाहित थी। अतः उसके शरीर पर दूसरे किसी का तो अधिकार था नहीं। उसने ऋषि द्वारा प्राप्त मन्त्रों की परीक्षा करने के लिए बिना किसी प्रकार की भोग-वासना के सद्भावपूर्वक सूर्य का आवाहन किया था। सूर्यदेव के प्रत्यक्ष होने पर उसने स्पष्ट शब्दों में इन्कार कर दिया कि मैंने तो आपका दर्शन करने के लिये ही बुलाया था, किसी प्रकार की कामना से प्रेरित होकर नहीं । इस पर भी सूर्य ने कहा कि मेरा आना व्यर्थ नहीं हो सकता। अतः तुम्हारे गर्भ से पुत्र तो होगा; परंतु तुम्हारे कौमार्य का नाश नहीं होगा।

इस घटना से कुन्ती को तो इसलिये कोई दोष नहीं लगा कि उसने अपनी इच्छा से वह काम नहीं किया। उसे विवश होकर करना पड़ा।

सूर्य को इसलिये दोष नहीं लगा कि देवयोनि भोगयोनि है। उसमें नये कर्म नहीं बनते। उसके कर्मों का फल नहीं बनता।

प्रश्न—क्या आजकल भी कोई स्त्री अपने पति की आज्ञा से ऐसा कर सकती है?

उत्तर—यदि कोई कुन्ती जैसी सती स्त्री हो, जिसमें किञ्चिन्मात्र

भी भोग-वासना न हो तथा देवता दिव्य भाव से जिसके बुलाने पर आ जायँ और पाण्डु जैसा धर्मात्मा पति आज्ञा देने वाला हो तो कोई आपत्ति नहीं। परंतु वैसी परिस्थिति इस समय नहीं है। देश काल के अनुसार धर्म के बाह्यस्वरूप में भेद होता है, आन्तरिक उद्देश्य में नहीं। धर्माचरण का मुख्य उद्देश्य प्राणों के रहते हुए वासनाओं से रहित होना है, अतः धर्माचरण वही है जो मनुष्य को वासनारहित बनाने में समर्थ हो।

(११)

प्रश्न—स्वप्न क्या है ?

उत्तर—जाग्रत में देखे, सुने, अनुभव किये हुए भावों के जो संस्कार मन में जम जाते हैं, उन्हीं का प्रकारान्तर से स्वप्न का दृश्य बन जाता है। स्वप्न में भी प्रारब्ध कर्म का उपभोग होता है।

प्रश्न—भगवत्प्राप्ति के बाद स्वप्न आता है या नहीं ?

उत्तर—स्वप्न तो एक अवस्था है। अतः जब तक शरीर रहता है, जब तक आता ही है। जिसका जैसा भाव जाग्रत् में रहता है, वैसा ही स्वप्न में भी रहता है। जिसका मन शुद्ध हो जाता है। उसको स्वप्न भी वैसा ही आता है। सूक्ष्म शरीर के व्यापार का नाम स्वप्न है। स्वप्न में मन का जैसा स्वरूप है, वैसा सामने आ जाता है।

प्रश्न—स्वप्न के पुण्य-पाप लगते है या नहीं ?

उत्तर—नहीं लगते; क्योंकि जगते ही उस दृश्य में असत् बुद्धि हो जाती है।

प्रश्न—गांधी जी के विषय में आपका क्या ख्याल है?

उत्तर—वे किस स्थिति तक पहुँचे थे, यह तो वे ही जानें या परमेश्वर। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि मुझसे अच्छे थे। ईश्वर-निर्भरता और मानवता उनके जीवन में आदर्श रूप में थीं।

ईश्वर विश्वास ही समस्त साधनों का मूल है। बिना विश्वास के साधन में उत्साह और सफलता नहीं होती ।

प्रश्न–बिना विश्वास के अर्थात् श्रद्धा के तो कोई भी काम सफल नहीं होता। यज्ञ, दान आदि कर्मों में भी श्रद्धा आवश्यक है?

उत्तर–कर्म में विधि की प्रधानता है। वहाँ श्रद्धा भी विधि के रूप में ही है। यदि विधि की कमी हो तो कर्मका जैसा फल होना चाहिये, वैसा नहीं होता, उसके फल में भेद हो जाता है। परंतु उपासना में अर्थात् भगवत्प्राप्ति के साधनों में विश्वास ही मुख्य है। बिना विश्वास के किसी भी साधन में साधक आगे नहीं बढ़ सकता। चित्त-शुद्धि तक ही मनुष्य का प्रयत्न है। चित्त शुद्ध हो जाने के बाद करना कुछ भी नहीं रहता। जो कुछ करना है, वह अपने आप हो जाता है, जो प्राप्त होना है, वह मिल जाता है। अन्तिम साधन जीव का पुरुषार्थ नहीं है। वह तो भगवान् की कृपा है, उसी पर साधक को निर्भर रहना चाहिए।

साधक के जीवन में ईश्वरविश्वास, उनके प्रेम की लालसा और उन पर निर्भरता होनी चाहिये। अपने प्रेमास्पद के वियोग से व्याकुल रहते हुए उन पर निर्भर रहना, प्रेम की भूख और निर्भरता दोनोंका एक साथ होना-यही साधक-जीवन का अन्तिम पुरुषार्थ है।

जब मनुष्य सुख और दुःख का कारण किसी दूसरे को मान लेता है, तब राग-द्वेष के कारण चित्त अशुद्ध हो जाता है। वास्तव में जब मनुष्य अपनी प्रसन्नता का कारण किसी दूसरे के कर्त्तव्य को मान लेता है, उसकी प्रसन्नता दूसरे पर निर्भर करती है यही उसके जीवन का सबसे बुरा समय है, ऐसा साधक को समझना चाहिये।

कुछ लोग सुख और दुःख को कर्मों का फल मानते हैं। परंतु वास्तव में कर्मो का फल सुख दुःख नहीं है।कर्मों के फल रूप में तो परिस्थिति प्राप्त होती है। उनमें सुख और दुःख तो मनुष्य के भावानुसार होते हैं।

विवेकशील मनुष्य भयंकर परिस्थिति में दुःखी नहीं होता, अपितु उसको अपनी उन्नति का हेतु समझकर उसका सदुपयोग करता है तथा सब प्रकार की परिस्थितियों को परिवर्तनशील,

अनित्य और अपूर्ण समझकर, परिस्थितियों से ऊपर का जीवन प्राप्त करने के लिये, उनसे असंग हो जाता है।

भगवत्-विश्वासी साधक तो प्रतिकूल परिस्थिति को भगवान् की अहैतुकी कृपा समझकर उनके प्रेम में मुग्ध हो जाता है। वह समझता है कि अब प्रभु अपने मन की बात पूरी कर रहे हैं। इससे बढ़कर मेरा सौभाग्य और क्या हो सकता है?

जिसको लोग सुख कहते हैं, उस अनुकूल परिस्थिति को भी भगवद्भक्त भगवान् की दया मानता है। वह समझता है कि यह परिस्थिति भगवान् ने मेरे छिपे हुए राग की निवृत्ति के लिये और विश्व रूप में अपनी सेवा करवाने के लिये दी है। अतः वह उसमें आसक्त न होकर प्राप्त शक्ति और पदार्थों को भगवान् की प्रसन्नता के लिये जगत् जनार्दन की सेवा में लगाकर भगवान् की प्रसन्नता में प्रसन्न रहता है।

साधक को चाहिये कि अनुकूल और प्रतिकूल किसी प्रकार की परिस्थिति में आबद्ध न हो, उसमें रस न ले अर्थात् उनमें ही संतुष्ट होकर परिस्थितियों से अतीत के जीवन से निराश न हो जाय; किंतु हरेक प्राप्त परिस्थिति को सदुपयोग करके उससे ऊपर उठने की चेष्टा करे। प्रत्येक परिस्थिति प्राणी के लिये साधन रूप है, साध्य नहीं।

कृपा और दया के शब्दार्थ में कोई खास भेद नहीं है। परंतु अनुकूल परिस्थिति की अपेक्षा प्रतिकूल परिस्थिति साधक को भगवान् की ओर अधिक आकर्षित करती है। इसलिये उसमें साधक को भगवत् कृपा का अनुभव होता है। दया तो हरेक दुःखी पर हो सकती है, परंतु जिस दया के साथ अपनत्व और प्रेम का भाव अधिक हो, उसे कृपा कहा जा सकता है।

(१२)

प्रश्न—ईश्वर का भक्त यदि आवश्यकता पड़ने पर दूसरों से कामना न करके ईश्वर से कामना करे तो क्या दोष है ?

उत्तर--जब तक साधक का संसार से सम्बन्ध रहता है, तब तक उसका भगवान् से सम्बन्ध नहीं होता। संसार से और शरीर से सब प्रकार का सम्बन्ध छोड़कर एक मात्र भगवान् से सम्बन्ध जोड़ लेना, भगवान् के सिवा किसी से कोई नाता न रहना, यही तो भक्ति है। दो सम्बन्ध एक साथ नहीं रह सकते। लड़की जब पिता के घर से सर्वथा सम्बन्ध छोड़ती है, तब पति के घर से सम्बन्ध होता है। जब साधक का शरीर और संसार से सम्बन्ध नहीं रहता, तब कोई वस्तु या परिस्थिति उसके लिये आवश्यक कैसे हो सकती है और वह किसी प्रकार की कामना कर ही कैसे सकता है ? जो वस्तुओं की कामना करता है, वह तो वास्तव में उन वस्तुओं का ही भक्त है, ईश्वर का नहीं।

भगवान् में पूर्ण विश्वास और नित्य नया प्रेम हो, इसी का नाम भक्ति है। यदि साधक अपनी कमजोरी का अनुभव करे और किसी प्रकार के संकल्प को विचार के द्वारा नहीं मिटा सके तो उसे भगवान् के समर्पण कर दे। उनकी मरजी पर छोड़ दे। वे चाहें उसे पूरा करके मिटा दें, चाहें बिना पूरा किये मिटा दें। साधक को पहले से किसी प्रकार का निश्चय करके माँग नही करनी चाहिये; क्योंकि उसका वास्तविक हित उस संकल्प को पूरा करने में है या मिटाने में, इस बात को साधक नहीं जानता। अतः साधक को अपनी राय कायम नहीं करनी चाहिये और कामना पूर्ति के लिये प्रार्थाना भी नहीं करनी चाहिये। सब कुछ भगवान् पर ही छोड़ देना चाहिये। वे जो कुछ करें उसी में प्रसन्न रहना चाहिये। यदि प्रार्थना करनी ही हो तो उनके पवित्र प्रेम की प्राप्ति के लिये , सुख-दुःख के बन्धन से छूटने के लिये, सब प्रकार की चाह से रहित होने के लिये माँग पेश करे।

इससे यह बात नहीं समझनी चाहिये कि भगवान् कामना पूर्ण करने में असमर्थ हैं या कामना पूरी नहीं करते । जो साधक भगवान् का भजन-स्मरण किसी कामना की पूर्ति के लिये करता है, वह कामना यदि उसके पतन में हेतु नहीं हो तो भगवान् अवश्य पूरी

करते हैं; परंतु उससे उस साधक को भगवान् का प्रेम नहीं मिलता।

भगवान् का चिन्तन तो चिन्तन के लिये नहीं, उनके प्रेम के लिये होना चाहिये। चिन्तन प्रेम के लिये किया जाता है। चिन्तन के लिये चिन्तन करने का कोई स्वारस्य नहीं होता।

प्रश्न–भगवान् के नाम का जप करना-यही तो भक्ति है या और कुछ ?

उत्तर–जिसमें प्रेम होता है उसके नाम का जप करना नहीं पड़ता। विचार करके देखें। जिन स्त्री, पुत्र और मित्र आदि में प्यार होता है, क्या वह उनका जप करता है ? जिसको धन प्रिय होता है, क्या वह उसका जप करता है? जिससे प्यार होता है उसका स्मरण और चिन्तन तो अपने आप होता है, करना नहीं पड़ता, क्योंकि प्रेम प्रयत्नसाध्य नहीं है, वह तो भगवान् पर विश्वास करके उनको अपना समझ कर अपने आपको उनके चरणों में समर्पण कर देने से होता है।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि नाम जप नहीं करना चाहिये। जिसका नाम पर विश्वास हो उसके लिये नाम-जप बहुत ही लाभदायक है मेरे कहने का अभिप्राय तो इतना ही है कि नाम जप ही भक्ति है, ऐसी बात नहीं है।

प्रश्न–मनुष्य क्या करने में स्वतन्त्र है और किसमें परतन्त्र है?

उत्तर–हरेक मनुष्य प्राप्त वस्तु, योग्यता, परिस्थिति और सामर्थ्य का सदुपयोग या दुरुपयोग करने में स्वतन्त्र है, परंतु उसके फल भोग में स्वतंत्र नहीं है, फल देना विधाता के अधीन है। वह जिस कर्म का फल जब और जिस प्रकार देना चाहे, दे सकता है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का नाम भलाई और दुरुपयोग का नाम बुराई है। भलाई का फल सुख और बुराई का फल दुःख होता है। जो कुछ बल अर्थात् वस्तु, परिस्थिति और उनका उपयोग करने की शक्ति प्रकृति से मिलती है, वह कर्म से मिलती है और विवेक भगवान् की कृपा से मिलता है। विवेक किसी कर्म का फल नहीं होता।

शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार जो प्रारब्ध बनता है, उसके अनुसार परिस्थति मिलती है। उसके सदुपयोग और दुरुपयोग से फिर प्रारब्ध बनता है, उसका फल भोगने के लिये फिर जन्म लेना पड़ता है इसी प्रकार यह कर्म-भोग का चक्र चलता रहता है। सुख भोग का प्रलोभन मनुष्य को अपना कर्तव्य पालन नहीं करने देता।

इसलिये साधक को चाहिये कि सुख भोग के प्रलोभन का त्याग करे और प्रतिकूलता से भयभीत न हो, प्रत्युत् भगवान् की अहैतुकी कृपा से जो विवेक प्राप्त हुआ है, उसका आदर करके प्रतिकूल परिस्थिति को भी भगवान् की कृपा मानकर प्रसन्न रहे। किसी प्रकार के सुख-भोग की कामना न करे। सुख भोग की कामना के त्याग को ही निष्काम भाव कहते हैं। अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर उसमें आसक्त न हो, उसको उदारतापूर्वक दुःखियों को सुख पहुँचाने में लगा दे और उसमें ऐसा समझे कि भगवान् की दी हुई वस्तु उन्हीं के आज्ञानुसार उनके काम में लग रही है, इसमें मेरा कुछ नहीं है। इसभाव से साधक की वासना मिट जाती है।

अपने अधिकार का त्याग करके अपने कर्त्तव्य-पालन द्वारा भगवान् के नाते दूसरों के अधिकार की रक्षा करना और उनके हित की भावना से उनको सुख पहुँचाना-यही साधक को पुरुषार्थ है।

जिस बात का निर्णय करना हो, उसका अच्छे-से-अच्छा पहलू लेकर कर्त्तव्य का निश्चय करना चाहिये, इसी में प्राप्त विवेक की सार्थकता है।

प्रश्न–गुरु से उऋण होने के लिये मनुष्य को क्या करना चाहिये ?

उत्तर–जिससे हमें अपने कर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त हो अर्थात् जो हमारे साधन का निर्माण कर दे, वही गुरु है एवं गुरुद्वारा उपदिष्ट साधन को जीवन में ढाल लेना उसके अनुसार अपना जीवन बना लेना ही गुरु से उऋण होना है।

हाड़-मांस का शरीर गुरु नही हैं गुरु में जो दिव्य ज्ञान है, वही

करते हैं; परंतु उससे उस साधक को भगवान् का प्रेम नहीं मिलता।

भगवान् का चिन्तन तो चिन्तन के लिये नहीं, उनके प्रेम के लिये होना चाहिये। चिन्तन प्रेम के लिये किया जाता है। चिन्तन के लिये चिन्तन करने का कोई स्वारस्य नहीं होता।

प्रश्न–भगवान् के नाम का जप करना-यही तो भक्ति है या और कुछ ?

उत्तर–जिसमें प्रेम होता है उसके नाम का जप करना नहीं पड़ता। विचार करके देखें। जिन स्त्री, पुत्र और मित्र आदि में प्यार होता है, क्या वह उनका जप करता है ? जिसको धन प्रिय होता है, क्या वह उसका जप करता है? जिससे प्यार होता है उसका स्मरण और चिन्तन तो अपने आप होता है, करना नहीं पड़ता, क्योंकि प्रेम प्रयत्नसाध्य नहीं है, वह तो भगवान् पर विश्वास करके उनको अपना समझ कर अपने आपको उनके चरणों में समर्पण कर देने से होता है।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि नाम जप नहीं करना चाहिये। जिसका नाम पर विश्वास हो उसके लिये नाम-जप बहुत ही लाभदायक है मेरे कहने का अभिप्राय तो इतना ही है कि नाम जप ही भक्ति है, ऐसी बात नहीं है।

प्रश्न–मनुष्य क्या करने में स्वतन्त्र है और किसमें परतन्त्र है?

उत्तर–हरेक मनुष्य प्राप्त वस्तु, योग्यता, परिस्थिति और सामर्थ्य का सदुपयोग या दुरुपयोग करने में स्वतन्त्र है, परंतु उसके फल भोग में स्वतंत्र नहीं है, फल देना विधाता के अधीन है। वह जिस कर्म का फल जब और जिस प्रकार देना चाहे, दे सकता है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का नाम भलाई और दुरुपयोग का नाम बुराई है। भलाई का फल सुख और बुराई का फल दुःख होता है। जो कुछ बल अर्थात् वस्तु, परिस्थिति और उनका उपयोग करने की शक्ति प्रकृति से मिलती है, वह कर्म से मिलती है और विवेक भगवान् की कृपा से मिलता है। विवेक किसी कर्म का फल नहीं होता।

शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार जो प्रारब्ध बनता है, उसके अनुसार परिस्थति मिलती है। उसके सदुपयोग और दुरुपयोग से फिर प्रारब्ध बनता है, उसका फल भोगने के लिये फिर जन्म लेना पड़ता है इसी प्रकार यह कर्म-भोग का चक्र चलता रहता है। सुख भोग का प्रलोभन मनुष्य को अपना कर्तव्य पालन नहीं करने देता।

इसलिये साधक को चाहिये कि सुख भोग के प्रलोभन का त्याग करे और प्रतिकूलता से भयभीत न हो, प्रत्युत् भगवान् की अहैतुकी कृपा से जो विवेक प्राप्त हुआ है, उसका आदर करके प्रतिकूल परिस्थिति को भी भगवान् की कृपा मानकर प्रसन्न रहे। किसी प्रकार के सुख-भोग की कामना न करे। सुख भोग की कामना के त्याग को ही निष्काम भाव कहते हैं। अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर उसमें आसक्त न हो, उसको उदारतापूर्वक दुःखियों को सुख पहुँचाने में लगा दे और उसमें ऐसा समझे कि भगवान् की दी हुई वस्तु उन्हीं के आज्ञानुसार उनके काम में लग रही है, इसमें मेरा कुछ नहीं है। इसभाव से साधक की वासना मिट जाती है।

अपने अधिकार का त्याग करके अपने कर्त्तव्य-पालन द्वारा भगवान् के नाते दूसरों के अधिकार की रक्षा करना और उनके हित की भावना से उनको सुख पहुँचाना-यही साधक को पुरुषार्थ है।

जिस बात का निर्णय करना हो, उसका अच्छे-से-अच्छा पहलू लेकर कर्त्तव्य का निश्चय करना चाहिये, इसी में प्राप्त विवेक की सार्थकता है।

प्रश्न—गुरु से उऋण होने के लिये मनुष्य को क्या करना चाहिये ?

उत्तर—जिससे हमें अपने कर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त हो अर्थात् जो हमारे साधन का निर्माण कर दे, वही गुरु है एवं गुरुद्वारा उपदिष्ट साधन को जीवन में ढाल लेना उसके अनुसार अपना जीवन बना लेना ही गुरु से उऋण होना है।

हाड़-मांस का शरीर गुरु नही हैं गुरु में जो दिव्य ज्ञान है, वही

गुरुतत्त्व है। उसका आदर करके उनकी आज्ञा के अनुसार अपना जीवन बना लेना ही शिष्य का शिष्यत्व है।

मनुष्य को गुरुतत्त्व की प्राप्ति चार प्रकार से होती है।

१. पहला गुरु तो भगवान् की कृपा से मिला हुआ विवेक है। उससे हरेक मनुष्य अपने साधन का निर्माण कर सकता है। जो प्राप्त विवेक का आदर करता है, उस साधक को बाह्य सद्‌गुरु की आवश्यकता नहीं पड़ती। जो इसका आदर नहीं करता, वह दूसरे गुरु को पाकर भी साधन का निर्माण नहीं कर पाता।

२. दूसरा गुरु व्यक्ति के रूप में मिलता है। जब मनुष्य अपने प्राप्त विवेक का आदर नहीं करता और सद्‌गुरु की आवश्यकता समझकर उनको पाने की चेष्टा करता है, तब उसे व्यक्ति के रूप में गुरु की प्राप्ति होती है। उनकी कृपा से भी साधक उनके उपदेशानुसार अपने साधन का निर्माण कर सकता है।

३. तीसरा गुरु ग्रन्थ के रूप में मिलता है। जब मनुष्य की किसी व्यक्ति पर श्रद्धा नहीं होती, किसी के बताये हुए साधन के अनुसार वह अपना जीवन नहीं बना सकता, तब सत् शास्त्रों को अर्थात् गीता एवं रामायण आदि सत्पुरुषों द्वारा रचे हुए ग्रन्थों को गुरु रूप में वरण कर सकता है और उनके उपदेशानुसार अपने साधन का निर्माण करके उसके अनुकूल अपना जीवन बना सकता है।

४. चौथा गुरु सत्संग है, अपने दोषों को सामने रखकर आपस में विचार-विनिमय द्वारा उन पर विचार करके साधन का निर्माण करने का नाम ही संत्सग है। इस प्रकार साधन का निर्माण करके उसके अनुसार साधक अपना जीवन बना सकता है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि साधन तत्त्व ही गुरु तत्त्व है और साध्य तत्त्व ही भगवान् है। साध्य से भी साधन का महत्त्व अधिक है, जैसे धन से भी धन प्राप्ति के साधन का महत्त्व अधिक है। इसी भाव को लेकर गुरु को भगवान् से भी बड़ा कहा जाता है। गुरु के शरीर

की सेवा करना भी शिष्य का काम है; परंतु गुरु की असली सेवा तो उनकी आज्ञा के अनुसार जीवन बना लेना ही है।

श्रद्धा गुरु में करनी चाहिये और प्रेम भगवान् में करना चाहिये। गुरु भी यही सिखाता है।

(१३)

प्रश्न—शरणागति की व्याख्या कीजिये ?

उत्तर—शरणागति की व्याख्या नहीं हो सकती, वैसे इस विषय का एक निबन्ध लिखा गया है, वह छप भी गया है, पर अभी आया नहीं, आ जाता तो एक पुस्तक दे देते। शरणागति का कोई एक ही प्रकार नहीं होता, अधिकारी के अनुसार शरणागति में भी भेद होता है।

शरणागति की भूमि विश्वास है, जहाँ विश्वास होता है, साधक अपनी योग्यता और विश्वास के अनूरूप प्रभु की महिमा को जैसी और जितनी समझता है, उसी ढंग से वह प्रभु के शरण होता है। शरणागति तो साधक के हृदय की पुकार है, वह सीखने से नहीं आती।

जबतक मनुष्य अपने विवेक, गुण और आचरणों द्वारा अपने दोषों का नाश कर लेने की आशा रखता है तब तक उसमें शरणागति का भाव जाग्रत् नहीं होता। जब अपने प्राप्त विवेक और बल का प्रयोग करके भी साधक अपने दोषों को मिटाने में अपने को असमर्थ पाता है, जब उसका सब प्रकार का अभिमान गल जाता है और वह अपने को सर्वथा निर्बल समझ लेता है तथा भगवान् की महिमा इस प्रकार जान लेता है कि वे सर्वशक्तिमान्, सर्व गुण सम्पन्न, सर्व सुहृद, परब्रह्म परमेश्वर, पतितपावन और दीनवत्सल हैं; हरेक प्राणी, चाहे वह कितना ही पापी, क़ितना ही नीच क्यों न हो; उसको अपनाने के लिये, उससे प्यार करने के लिये वे हर समय, हर जगह प्रस्तुत रहते हैं; एवं साथ ही यह संदेह-रहित विश्वास हो जाता है कि मैं जैसा भी हूँ, उनका हूँ एक मात्र वे ही

मेरे हैं; उनके अतिरिक्त मेरा और कोई नहीं है; तथा जिसके हृदय में उनके प्रेम की लालसा है और जो उसकी पूर्ति से निराश भी नहीं हुआ है, उस साधक में शरणागति का भाव जाग्रत् होता है।

मनुष्य के जीवन में जितने प्रकार के अभाव होते हैं, जिनके कारण वह दुःखी होता है, वे सब प्राप्त विवेक के अनादर से और बल के दुरुपयोग से होते हैं। जो साधक विवेक का आदर और बल का सदुपयोग करके सब प्रकार के दोषों को मिटा कर अपने चित्त को शुद्ध कर लेता है, उसे शरण लेने की आवश्यकता नहीं होती। एवं भगवान् भी जब तक कोई अपनी पूर्ति स्वयं कर लेता है, तब तक उसमें हस्तक्षेप नहीं करते। जो साधक शरण लेना चाहता है, सम्भव है, भगवान् उसे भी शरणागत होने का अवसर न दें, उसके पहले ही उसकी लालसा पूरी कर दें।

व्याख्यान उसी बात का होता है, जो की जाने वाली हो। जो अपने आप या भगवान् की कृपा से होने वाली बात है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जब मनुष्य का यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि जिस शरीर, बुद्धि, मन आदि को मैं अपना समझता था एवं संसार के जिन व्यक्तियोंको, जिस सम्पत्ति और परिस्थितिको अपनाकर मैंने उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ रक्खा है,वे कोई मेरे नहीं हैं, इस भाव से जब वह सब ओर से निराश हो जाता है, तब उसका उन शरणागत-वत्सल, सर्व-सुहृद भगवान् की ओर लक्ष्य जाता है और उनके शरणागत होने की लालसा प्रकट होती है। यह शरणागति ही जीवका अन्तिम पुरुषार्थ है।

अतः साधक को चाहिये कि भगवान् की महिमा और उनके सहज कृपालु स्वभाव की ओर देखकर अपने उत्साह में कमी न आने दे, अपने लक्ष्य की प्राप्ति से कभी निराश न हो और भगवान् की शरण होकर सर्वथा उन्हीं पर निर्भर हो जाय। अपनी निर्बलता को जानकर इस भाव को सर्वथा मिटा दें कि मैं कुछ कर सकता हूँ या मुझे कुछ करना है।

जब साधक प्रभु की शरण हो जाता है, तब उसका अहंभाव मिट जाता है; क्योंकि किसी प्रकार के बल का और गुणों का अभिमान रहते हुए मनुष्य भगवान् की शरण नहीं हो पाता। शरणागत साधक कभी भी भगवान् से कुछ चाहता नहीं एवं यह भी नहीं समझता कि मेरा उन पर कोई अधिकार है। वह तो सब प्रकार से विश्वास पूर्वक अपने आपको उनके समर्पण कर देता है। और उन्हीं पर निर्भर रहता है।

भगवान् की कृपा से, शरणागत भक्तों का संग करने से और प्राप्त विवेक का आदर करने से शरणागत भाव प्राप्त होता है। जब साधक का कोई उपाय न चले, अपनी निर्बलता का पूरा-पूरा अनुभव हो जाय तब उसे भगवान् की शरण लेकर उनको पुकारना चाहिये। शरणागति अचूक शस्त्र है। इससे मनुष्य के समस्त दोष जल कर भस्म हो जाते हैं।

साधक का जीवन अपनी मान्यता और जानकारी से अभिन्न हो जाना चाहिये। मान्यता, जानकारी और जीवन, तीनों की एकता होनी चाहिये। उनमें भेद न हो।

यदि किसी के मन में यह भाव आये कि भगवान् तो स्वभाव से ही दयालु हैं, उनकी कृपा मुझ पर क्यों नहीं हुई, तो उसे अपनी दशा का अध्ययन करना चाहिये। पहले तो उसे यह देखना चाहिये कि मैं क्या चाहता हूँ, उसके बाद यह देखना चाहिये कि मैं उसकी पूर्ति के लिये क्या कर सकता हूँ, फिर यह कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, उससे मेरी आवश्यकता पूरी हो रही है या नहीं अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये मुझमें व्याकुलता है या नहीं, उसके लिये मैं संसार के प्यारे-से-प्यारे काम को और पदार्थों को छोड़ सकता हूँ या नहीं।

इस प्रकार अपनी दशा का अध्ययन करने पर यदि मालूम हो कि मैं संसार की किसी अनित्य वस्तु को चाहता हूँ तो प्राप्त विवेक के द्वारा उसके परिणाम पर विचार करके उस चाह को मिटा देना चाहिये। यदि यह मालूम हो कि मैं स्वयं कुछ कर सकता हूँ तो यह देखकर कि अब तक मैंने जो कुछ किया है उससे मेरी आवश्यकता

पूर्ण क्यों नहीं हुई, साधक को अपनी निर्बलता का अनुभव करके उस अभिमान का त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि अभिमान के रहते हुए भगवान् की कृपा प्राप्त नहीं होती। अपने बल का अभिमान छोड़कर साधक जब यह विकल्प-रहित दृढ़ विश्वास कर लेता है कि मुझ पर भगवान् की कृपा अवश्य होगी, मैं उनका कृपा पात्र हूँ, उसी समय उस पर भगवान् की कृपा अवश्य हो जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं हैं

जब भगवान् की असीम कृपा से शरणागति का भाव उदय हो जाता है, उसके बाद साधक को कभी असफलता का दर्शन नहीं होता।

मनुष्य को विचार करना चाहिये कि मुझे सबसे अधिक प्रिय क्या हैं? यदि उसे यह मालूम हो कि मेरा प्यार बहुत जगह बँटा हुआ है तो उसे समझना चाहिये कि अनेक जगह प्यार बँटा रहते हुए शरणागति का भाव उत्पन्न नहीं होता। अतः साधक को चाहिये कि जिन अनित्य वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़कर वह उनसे प्यार करता है, उनसे प्रियता उठाकर एकत्र करे। एक मात्र उसी को अपना प्रिय समझे कि जिसके बिना वह किसी प्रकार भी चैन से नहीं रह सके। ऐसा प्रिय एक प्रभु ही हो सकता है।

विचार करने पर मालूम हो सकता है कि संसार की समस्त वस्तुओं के बिना हम चैन से रह सकते और रहते हैं। उनका वियोग अनिवार्य है; क्योंकि जो विनाशशील पदार्थ हैं, उनसे मनुष्य का नित्य सम्बन्ध कैसे रह सकता है, अतः उनसे प्यार करके अपने नित्य सम्बन्धी प्रभु से दूरी मान लेना कितनी बड़ी भूल है? साधक को चाहिये कि भली प्रकार विचार करके अनित्य पदार्थों से अपना सम्बन्ध सर्वथा तोड़ दे और अपने प्रभु पर विश्वास करके उनसे सम्बन्ध जोड़ ले। जिस पर विश्वास होता है, उससे सम्बन्ध हो जाता है। जिससे सम्बन्ध होता है, उसीका चिन्तन होता है। और जिसका चिन्तन होता है, उसी में प्रेम होता है।

भगवान् पर विश्वास और प्रेम स्वाभाविक होना चाहिये, किसी प्रकार का जोर डालकर नहीं; क्योंकि प्रयत्न-साध्य वस्तु स्थायी नहीं होती। अपने जीवन पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये कि मेरा भगवान् पर सहज विश्वास और प्रेम क्यों नहीं होता ? यदि मालूम हो कि भगवान् को मैंने कभी देखा नहीं इसकारण विश्वास नहीं होता तो सोचना चाहिये वे हमें क्यों नहीं दीखते ? तब मालूम होगा कि हम अनेक सीमित वस्तुओं को देखते हैं और उन्हीं के साथ-साथ भगवान् को भी देखना चाहते हैं, इसीलिये भगवान् नहीं दीखते; क्योंकि वे असीम हैं, अतः सीमित चीजों के साथ सीमित दृष्टि से कैसे दिखलायी दें ?

इसके सिवा यह बात है भी नहीं कि भगवान् दीखते नहीं, इस कारण उन पर विश्वास नहीं होता; क्योंकि दीखने वाली सब वस्तुओं पर भी तो विश्वास नहीं होता।

कामना-पूर्ति की इच्छा वास्तविक आवश्यकता का ज्ञान नहीं होने देती। वही विश्वास में बाधक है। उसकी उत्पत्ति देह में अहंभाव से होती है।

अपनी आवश्यकता क्या है ? इस पर विचार करने पर साधारण दृष्टि से मालूम होता है। कि धन ही सबसे अधिक जरूरी है। आगे बढ़ने पर मालूम होगा कि धन की अपेक्षा वस्तु अधिक आवश्यक है। उससे बढ़कर अपने सम्बन्धित व्यक्ति और उससे भी अधिक आवश्यक अपना शरीर मालूम होता है।

धन की आवश्यकता लोभ के कारण मालूम होती है। चित्त की अशुद्धि से लोभ उत्पन्न होता है। वस्तुओं की आवश्यकता सुख भोग-कामना से होती है। अपने माने जाने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता मोह से मालूम होती है। लोभ, काम और मोह-ये सभी चित्त की अशुद्धि से होते हैं और चित्त को अशुद्ध करते रहते हैं तथा इनके कारण मनुष्य को कभी शान्ति नहीं मिलती। बारंबार अभाव का दुःख भोगना पड़ता है। क्योंकि सभी अनित्य हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि संसार वास्तव में हमारी आवश्यक वस्तु नहीं है।

चित्त के दोष से ही उसकी आवश्यकता प्रतीत होती है। वास्तव में वे इच्छाएँ हैं; क्योंकि आवश्यकता अनेक नहीं हुआ करती। इच्छाकी निवृत्ति होती है और आवश्यकता की पूर्ति होती है। इच्छाओं की निवृत्ति से ही आवश्यकता की पूर्ति हुआ करती है।

अतः साधक को कभी इच्छाओं के जाल में नही फँसना चाहिये। उसे सोचना चाहिये कि शरीर का नाश होने पर भी मेरा नाश नहीं होता, संसार के सभी व्यक्तियों और पदार्थों के बिना मैं रह सकता हूँ। शरीर में न जीवन है और न पूर्णता है। आवश्यकता उसी की है जिससे मेरा नित्य सम्बन्ध है, जो पूर्ण जीवन है, जिसका कभी अभाव नहीं होता। सब प्रकार से पूर्ण तो एक प्रभु ही हैं। उनके बिना इच्छाओं की पूर्ति में लगे रह कर मैं अनेक जन्मों से अनेक योनियों में भटकता रहा, आज तक उनकी पूर्ति या निवृत्ति नहीं हुई। अब भी यदि मैं उन इच्छाओं के जाल में फँसा रहूँगा तो मुझे प्रभु की कृपा का कैसे अनुभव होगा?

इस प्रकार अपनी दशा का अध्ययन करने से मनुष्य को वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो जाता है और वह अपनी वास्तविक आवश्यकता से परिचित हो जाता हें उसके होने पर वह ईश्वर से भी शीघ्र ही परिचित हो जायगा।

जबतक साधक की ईश्वर में सर्वोत्कृष्ट बुद्धि नहीं होती, तब तक वह ईश्वर के शरणागत नहीं हो सकता।

अतः साधक को चाहिये कि सब ओर से बुद्धि और मन को हटा ले, एक मात्र ईश्वर में ही दोनों को लगा दे। भगवान् पर विश्वास न होने के जितने भी कारण हैं, उनको खोज-खोजकर मिटा दे तथा अपने प्रभु पर अचल और विकल्परहित विश्वास करे। ईश्वर के अतिरिक्त किसी में भी न तो विश्वास करे, न किसी को अपना माने, न किसी से प्यार करे और न किसी का चिन्तन करे; क्योंकि अन्य सभी अनित्य हैं। कोई भी प्रेमी नहीं है। प्रेमी वही है जो कभी कुछ ले नहीं।

इस प्रकार जब साधक का सब पर से विश्वास उठकर एवं सबसे सम्बन्ध टूटकर एक मात्र अपने प्रभु में ही विश्वास और सम्बन्ध की दृढ़ता हो जाती है, तब उसका उनमें स्वतः ही प्रेम जाग्रत् हो जाता है। प्रेम होने के बाद चिन्तन और स्मरण करना नहीं पड़ता, अपने आप होता है। ऐसा होते ही साधक एक मात्र भगवान् की शरण हो जाता है। अपने-आपको उनके समर्पण करके उन्हीं पर निर्भर हो जाता है।

(१४)

प्रश्न—भगवान् को अवतार क्यों लेना पड़ा ?

उत्तर—भगवान् को अवतार लेना पड़े, ऐसी बात भगवान् में नहीं होती; क्योंकि भगवान् सर्वथा पूर्ण, सर्वशक्तिमान् और स्वतंत्र हैं।

भगवदवतार के शास्त्रों में तीन हेतु बतलाये जाते हैं-

(१) साधुओं का परित्राण, २. दुष्टों का विनाश और ३. धर्म की स्थापना। इनमें से दुष्टों का विनाश और धर्म की स्थापना तो भगवान् बिना अवतार लिये भी कर सकते हैं। यदि वे दोनों भगवान् के अवतार में खास कारण होते तो इस समय भी भगवान् का अवतार होना चाहिये था। धर्म का ह्रास इस समय कम नहीं है और दुष्टों की भी कमी नहीं है। परंतु उनकी लीला पर विचार करने पर मालूम होता है कि भगवान् का अवतार अपनी रसमयी लीला के द्वारा भक्तों को रस प्रदान करने के लिये और स्वयं उनके प्रेम का रस लेने के लिये ही होता है। धर्म की स्थापना और दुष्टों का विनाश तो उसका आनुषंगिक कार्य है। उसमें भी प्रकारान्तर से साधुओं का हित भरा रहता है।

साधु पुरुष वही है, जो भगवान् को प्राप्त करना चाहता है, अपने जीवन को भगवत्परायण बनाने की साधना में लगा रहता है, किसी प्रकार का भेष बना लेने का नाम साधु नहीं है।

भगवान् जब अवतार लेते हैं, साधु पुरुषों के घरों में लेते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार पर ही विचार कीजिये। उनका प्राकट्य वसुदेव जी के घर में और माता देवकी के उदर से हुआ। जो स्वयं प्रकाश और सर्वत्र बसने वाला है, उसे 'वसुदेव' कहते हैं और प्रकाशमयी ब्रह्मविद्या का नाम देवकी है। इससे यह मालूम होता है कि भगवान् उन साधु पुरुषों के घर जन्म लेते हैं, जो सर्वथा विशुद्ध और तत्त्वज्ञानी हैं। परंतु उनको अपनी लीलाका-अपने प्रेम का रस प्रदान नहीं करते। अपनी प्रेममयी लीला का रस प्रदान करने के लिये आप माता यशोदा की गोद में पधारते हैं। जो यश यानी प्रेम रस का दान करे, उसको 'यशोदा' कहते हैं और आनन्द का ही दूसरा नाम 'नन्द' है। इससे यह मालूम होता है कि भगवान् अपने प्रेमी भक्तों को अपनी प्रेम मयी लीला का रस प्रदान करके और उनके प्रेम रस का स्वयं आस्वादन करके उन भक्तों को आह्लादित करते हैं। यह काम बिना अवतार लिये पूरा नहीं हो सकता।

भगवान् की एक-एक लीला में अनेक रहस्य भरे रहते हैं। वे एक ही लीला में बहुतों की लालसा पूरी करते रहते हैं। उनकी प्रेममयी लीला का रहस्य बड़े-बड़े बुद्धिमान् नहीं समझ पाते। औरों की तो कौन कहे, साक्षात् ब्रह्माजी को संदेह हो गया।

भगवान् अघासुरको मुक्त करके वन-भोजन करनेके लिये अपने बालसखाओं के बीचमें बैठकर भोजन करने लगे तो उस लीला को देखकर ब्रह्माजी चकित हो गये। वे सोचने लगे कि 'साक्षात् परमेश्वर क्या कभी इन गँवार ग्वालोंके बालकोंकी जूँठ खा सकते हैं। यह क्या है ? एक बालक अपनी वस्तु दूसरे को देता है, वह अपने घरसे लायी हुई वस्तु दूसरे को देता है।' इस मोहमें पड़कर उन्होंने भगवान्‌की परीक्षा करनेके लिये बछड़ों को उठाया। इधर बालकोंका मन भगवान्‌से हटकर बछड़ोंकी ओर गया। वे बोले, घासके लोभसे बछड़े दूर चले गये हैं, दिखलायी नहीं देते।' भगवान् यह कैसे सहन कर सकते हैं कि उनका प्रेमी किसी औरको देखे, उनको छोड़कर उसका मन दूसरी जगह चला जाय। अतः उन्होंने

सखाओं से कहा—'मित्रों ! तुमलोग यहीं रहो, मैं अभी बछड़ों को ले आता हूँ।' श्यामसुन्दर उधर गये कि ब्रह्माजी ने उन बालकों को बेहोश करके वहाँसे उठाया और पर्वतकी गुफामें रख आये। भगवान् से मन हटते ही ग्वाल-बालोंको एक वर्ष उनसे अलग होना पड़ा। इधर गायें तथा गोप-गोपियोंके मनमें यह लालसा बढ़ रही थी कि कभी वे दिन आयेंगे कि श्यामसुन्दर यशोदा मैयाकी भाँति हमारे स्तनोंका दूध-पान करेंगे, उसी प्रकार हमारी गोदमें खेलकर अपनी प्रेममयी बाललीला का रस प्रदान करेंगे। उनकी उस लालसाको पूर्ण करनेके लिये भगवान् स्वयं बालक एवं बछड़े बने और गायोंको प्रेम-रस प्रदान किया तथा उनका प्रेम-रस दुग्धके रूपमें पान किया। गोप और गोपियोंकी गोदमें खेलकर उनको पुत्र-स्नेहका रस प्रदान किया। एक वर्षतक वे उस मधुर प्रेमरस-का आस्वादन करते रहे। उसके बाद जब ब्रह्माजी ने देखा कि ब्रजका काम तो उसी प्रकार चल रहा है, श्यामसुन्दर तो पहलेकी भाँति ही उन ग्वालबालों के साथ भोजन कर रहे हैं और खेल कर रहे हैं तथा जिनको मैं चुरा लाया था वे सब गुफा में सो रहे हैं, तब विचार करते ही उनको भगवान्‌की अचिन्त्य महिमाका कुछ दर्शन हुआ एवं उनका समस्त अभिमान गल गया। भगवान्‌के चरणों में मस्तक रखकर उन्होंने क्षमा माँगी और भगवान् की स्तुति की, परंतु भगवान् उनसे बोले तक नहीं। एक ही लीलामें भगवान्‌ने अपने ऐश्वर्य और माधुर्यका प्रदर्शन किया। यह काम बिना अवतारके कैसे हो सकता था ? एक ओर ब्रह्माके अभिमानका नाश, उसी के साथ-साथ ग्वालबालों को चेतावनी और गायोंकी एवं गोप-गोपियोंकी प्रेम-लालसाकी पूर्ति। यह काम तो अवतार लेकर ही किया जा सकता है।

इसके पहले जब भगवान् श्यामसुन्दर छः दिनके हुए थे, उस समय भी उन्होंने एक ही साथ ऐश्वर्य और माधुर्य तथा न्याय और दयालुताका भाव दिखाया था पूतना, जो घोर पापिनी और बालकों का नाश करनेवालीथी, जब सुन्दर धायका कपट वेष बनाकर भगवान्‌के पास गयी एवं मनमें दूषित भाव रखकर ऊपरसे प्रेम का

भाव दिखाकर उनको गोदमें उठा लिया और अपना स्तन श्यामसुन्दर के मुखारविन्दमें दे दिया, तब भगवान्‌ने उसके मातृस्नेहकी रक्षा करनेके लिये तो उसका दूध पिया और वह उनके प्राण लेनेके लिये आयी थी, इसलिये दूधके साथ-साथ उसके प्राण भी पी गये। भगवान्‌के स्पर्शसे उसका कपट नाश हो गया। वह अपने असली रूपमें आ गयी। सारे शरीर में सुगन्ध हो गयी। भगवान् उसके शरीरपर खेलने लगे और उसे माताकी गति प्रदान की। इस प्रकारकी लीला भगवान् बिना अवतारके कैसे कर सकते थे ?

इसी प्रकार उनकी हरेक लीलामें अन्नत रस और अनन्त रहस्य भरा हुआ है। उनके प्रेमी भक्त ही उसका रस ले सकते हैं।

भगवान्‌का अवतार नित्य है। उनका लीलाधाम, उनके माता-पिता, उनके सखा और सखियाँ सब चिन्मय प्रेमसे ही बने हुए थे। उनमें कोई भी भौतिक वस्तु नहीं थी। भगवान्‌के प्रेमी भक्तों में भौतिक भाव नहीं रखता।

भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका आज भी उनकी दिव्य लीलामें प्रवेश होता है और वे उनके प्रेम-रसका आस्वादन करते रहते हैं। यदि भगवान्‌का अवतार नहीं होता तो इसकी पूर्ति नहीं हो सकती थी।

जिनको यह विश्वास नहीं है कि भगवान् अवतार लेते हैं, उनसे मेरा कोई आग्रह नहीं है कि वे अवतारवादको जबर्दस्ती मानें तथा उनके न माननेका कोई आश्चर्य भी नहीं है, क्योंकि अपनी मान्यताके लिये सभी स्वतन्त्र हैं।

(१५)

प्रश्न—साधन में सफलता क्यों नहीं मिलती ?

उत्तर—आजकल लोग साधन तो करते नहीं और साधनका फल लेना चाहते हैं, तब उनको सफलता कैसे मिले ? हरेक मनुष्य सोचता है कि साधन करके योग्यता तो कोई दूसरा प्राप्त कर ले और हमें आशीर्वाद दे दे ताकि हमें उसका सुख मिल जाय। जैसे गाछ तो कोई दूसरा लगा ले और उसके फल वह खाना चाहे,

जिसने गाछ लगाते समय कुछ नहीं किया, तो ऐसा होता नहीं। साधनकी सफलताके लिये साधकको स्वयं साधन करना पड़ेगा। उसे साधनको ही अपना जीवन मानना पड़ेगा। ऐसा करनेसे ही वह कृतकार्य हो सकता है।

जो मनुष्य सब प्रकारके बन्धनों से मुक्त होना चाहता हो, उसे विचार करना चाहिये कि बन्धन क्या है ? विचार करनेपर मालूम होगा कि भोगोंकी वासना, उनको प्राप्त करनेका संकल्प, उनका सम्बन्ध और चिन्तन, ये सब कहीं बाहरसे नहीं आये हैं। अपने ही प्रमादसे, अपनी ही असावधानी से अपने अंदर उत्पन्न हो गये हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि बन्धन मनुष्यका अपना ही बनाया हुआ अपने अंदर है। अतः उससे मुक्ति भी वह स्वयं ही कर सकता है।

बन्धनोंको काटने के लिये अर्थात् उनके मुक्त होने के लिये साधकको चाहिये कि सब प्रकार के भोगोंकी चाहका त्याग कर दे तथा उनके सम्बन्ध और चिन्तन से रहित हो जाय।

शरीरको मैं माननेसे और उससे सम्बन्ध रखनेवालों को अपना माननेसे चाहकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि जिन-जिनसे मनुष्य अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, उनमें आसक्ति हो जाती है। आसक्ति के कारण ही भोग उसे सुखप्रद प्रतीत होने लगते हैं तथा अपनेको शरीर मानकर ही मनुष्य उनके उपभोग में प्रवृत्त होता है। वास्तव में भोगों का परिणाम रोग और शोक है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि सब प्रकारके बन्धनोंका कारण एकमात्र अपनेको शरीर मान लेना है। अतः साधकको चाहिये कि अपनेको देहसे सर्वथा भिन्न समझकर सब प्रकारकी भोगवासनाका परित्याग कर दे।

भोगवासनाका अर्थात् सब प्रकारकी चाहका परित्याग करनेके लिये संकल्पोंको मिटा देना आवश्यक है। अतः साधकको चाहिये कि जो आवश्यक संकल्प हों, उनको पूरा करके मिटा दे और जो अनावश्यक हों, उनका त्याग करके मिटा दे। संकल्परहित होनेपर

साधकमें शक्ति आती है एवं चित्त शुद्ध और स्थिर होने लगता है। तब वह चाहरहित हो सकता है। चाहरहित होनेपर ही शान्ति मिलती है।

नाना प्रकारके संकल्प और भोगोंकी इच्छाने ही मनुष्यमें अभावकी उत्पत्ति करके उसे दुःखी कर दिया है। भोगोंके वास्तविक स्वरूपको जानकर, संकल्पोंकी उत्पत्तिके कारणको मिटानेकी कोशिश करनेपर और बार-बार उनका निरीक्षण करके त्याग करते रहने पर संकल्पोंकी उत्पत्ति रुक सकती है। इसलिये साधकको निराश नहीं होना चाहिये।

साधकको चाहिये कि संकल्पके निवृत्तिकालमें जो उसे रस मिलता है, उसका अनुभव करे। संकल्प उत्पन्न होकर पूरा हो जाय और दूसरा संकल्प उत्पन्न न हो, उसके बीचमें ध्यानपूर्वक अध्ययन करनेपर संकल्पनिवृत्ति के रसका अनुभव हो सकता है।

चेष्टा करनेपर भी संकल्प नहीं रुकते। इसका कारण यह है कि संकल्पोंकी उत्पत्तिका दुःख नहीं है और उनकी पूर्तिमें सुख मालूम होता है। अतः साधकको चाहिये कि संकल्पोंका परिणाम दुःख है, यह समझकर उनकी निवृत्ति न होनेतक उनके दुःख से व्याकुल हो जाय और उनकी पूर्तिके सुखका रस न ले। जिनको वर्तमान स्थिति में संतोष नहीं होता, गहरा दुःख होता है, उनका ही परिवर्तन होता है।

विचार करनेपर साधकको मालूम होगा कि एक-एक चाहको पूरी करनेके लिये अनेक संकल्प उत्पन्न होते हैं और एक-एक संकल्पकी पूर्ति के लिये अनेक इच्छाएँ होती हैं। चाह और संकल्प मनुष्यको पराधीन बना देते हैं। इस रहस्यको न समझनेके कारण ही मनुष्य को संकल्पोंकी उत्पत्तिका दुःख नहीं होता और उनको मिटाने के लिये तत्परतापूर्वक साधन नहीं होता।

संकल्पोंका अन्त होनेसे चाहकी निवृत्ति होगी। चाहकी निवृत्ति ही चित्तकी शुद्धि है। चित्त शुद्ध होते ही साधकको बोध प्राप्त हो

जाता है। उससे उसके सब प्रकारके दुःखोंका नाश हो जाता है और उसके बाद जो भक्ति उत्पन्न होती है, उससे अनन्त रस मिलता है। अतः साधकको संकल्पोंका समूल नाश करनेके लिये सदा साधनमें तत्पर हो जाना चाहिये।

(१६)

प्रश्न—गोपियोंके प्रेमकी बात कहिये ?

उत्तर—गोपी-प्रेमकी बात वही कह सकता है जिसको गोपीभाव प्राप्त हो गया हो। सुननेका अधिकारी भी वही है। जबतक स्थूल, सूक्ष्म या कारण-किसी भी शरीरमें अहंभाव है, तबतक मनुष्यको गोपीभाव प्राप्त नहीं होता, अतः वह गोपी-प्रेमका अधिकारी नहीं है।

उद्धव—जैसे ज्ञानी और योगी, जो भगवान् श्रीकृष्णके सखा थे, जब ब्रजमें गये, तब गोपियोंके प्रेमको देखकर ज्ञान और योगको भूल गये। उलटा अपने स्वामी और सखा श्रीकृष्णको हृदयहीन और कठोर बताने लगे और उन गोपियोंके प्रेमकी प्रशंसा करने लगे। यहाँतक कि ब्रजके लता-पत्ता बननेमें भी अपना सौभाग्य मानकर गोपियोंकी चरण-रजकी कामना करने लगे। उन गोपियोंके प्रेमको भला कोई साधारण मनुष्य कैसे समझ सकता है?

जबतक मनुष्यका शरीरमें अभिमान रहता है, तबतक उसको किसी-न-किसी प्रकारके संयोगजनित सुखका लोभ रहता है। गोपीभाव प्राप्त करनेके लिये वस्तुके संयोग और क्रियाजन्य सुखकी तो कौन कहे, चिन्तन तक के सुखका भी त्याग करना पड़ता है। जबतक यह भाव रहता है-अमुक वस्तु, अमुक व्यक्ति, अमुक परिस्थितिसे सुख मिलेगा, तबतक मनुष्य उनका दास बना रहता है। उसके मनमें दूसरोंको सुख पहुँचानेका भाव उत्पन्न नहीं होता। अपने सुख-भोगकी रुचि रहती है। यही स्वार्थभाव है। स्वार्थभाव के रहते हुए गोपीभावकी बात समझमें नहीं आ सकती।

मानव-जीवनमें सत् और असत् दोनोंका संग रहता है। शरीर, संसार और भोगोंका संग ही असत्का संग है और अनन्त जीवन

तथा नित्य आनन्दकी लालसा ही सत्‌का संग है। जिसमें केवल असत्‌का संग है, वह भी मनुष्य नहीं है, क्योंकि असत्‌का संग तो पशु-पक्षी आदि तिर्यक् योनियोंमें भी होता है। एवं जिसमें केवल सत्‌का संग है, उसे भी मनुष्य नहीं कहा जा सकता। वह मनुष्यभाव से अतीत है। अतः गोपीभाव प्राप्त करनेके लिये स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरका तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त भोगोंका संग विवेकद्वारा छोड़ना पड़ता है। उसका त्याग सत्संगसे ही हो सकता है।

सांसारिक सुखभोग में क्या-क्या दुःख हैं, इसकी असलियत का ज्ञान सुखभोगसे उन साधकोंको होता है, जो अपने प्राप्त विवेकका आदर करते हैं। विवेकका आदर ही सत्संग है। इस सत्संग से सुखभोगकी रुचि मिट जाती है और भगवान्‌के नित्य-नव प्रेमकी लालसा उत्पन्न हो जाती है। तब किसी-किसी अधिकारीको गोपी-भावकी प्राप्ति होती है।

देहसे असंग होनेपर ही मनुष्य भोगवासनासे रहित हो सकता है। दोषोंका त्याग ही गुणोंका संग है। भोगोंकी चाह रहते हुए गुणोंका उदय और दोषोंका अभाव नहीं होता। अतः यह समझना चाहिये कि सब प्रकार की चाहका अन्त होनेपर ही सत्‌का संग अर्थात् *भगवत्प्रेमकी लालसा* उत्पन्न होती है।

अतः जिस साधकको गोपीभाव प्राप्त करना हो और उनकी *लीलामें* प्रवेश करके गोपीप्रेमकी बात समझनीहो, उसे चाहिये कि देहभाव से उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण भोगोंकी वासनाका त्याग कर दे, क्योंकि जबतक देहभाव रहता है, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ-ऐसा भाव होता है, तबतक गोपी-चरित्र सुनने और समझनेका अधिकार प्राप्त नहीं होता। फिर गोपी-प्रेम क्या है-यह तो कोई समझ ही कैसे सकता है ?

जब भगवान् श्यामसुन्दरके प्रेमकी लालसा समस्त भोग-वासनाओंको खाकर सबल हो जाती है, तब तो साधकका व्रज में प्रवेश होता है। उसके पहले तो व्रज में प्रवेश ही नहीं होता। यह

उस व्रजकी बात नहीं है, जहाँ लोग टिकट लेकर जाते हैं। यह तो उस व्रजकी बात है जो प्रकृतिका कार्य नहीं है, जहाँकी कोई भी वस्तु भौतिक नहीं है। जिसका निर्माण दिव्य प्रेमकी धातुसे हुआ है। जहाँकी भूमि, ग्वाल-बाल, गोपियाँ, गायें और लता-पत्ता आदि सब-के-सब चिन्मय हैं। जहाँ जड़ता और भौतिक भावकी गन्ध भी नहीं है, उस व्रज में प्रवेश हो जानेके बाद भी गोपीभावकी प्राप्ति बहुत दूरकी बात है। दास्यभाव, सख्यभाव और वात्सल्यभावके बाद कहीं गोपी-भावकी उपलब्धि होती है। फिर साधारण मनुष्य उस गोपी-प्रेमकी बात कैसे समझ सकते हैं और कैसे कह सकते हैं ?

जबतक देहभाव रहता है, तभीतक भोगवासना और अनेक प्रकारके दोष रहते हैं और तभीतक दोषों का नाश करके चित्तशुद्धिके लिये साधन करना रहता है। चित्तका सर्वथा शुद्ध हो जाना और सब प्रकारसे असत्का संग छूट जाना ही ब्रजमें प्रवेश है।

अतः जिस साधकको गोपी-प्रेम प्राप्त करना हो, उसे चाहिये कि पहले मुक्तिके आनन्दतकका प्रलोभन छोड़कर व्रजमें प्रवेशका अधिकार प्राप्त करे और उसके बाद भगवान्की कृपापर निर्भर होकर गोपी-भावको प्राप्त करे।

(१७)

प्रश्न—मनुष्यका विकास कैसे हो ?

उत्तर—मनुष्यको अपने विकासके लिये कुछ-न-कुछ श्रम करते रहना चाहिये। श्रमसे जीवनमें संयम आता है और बेकार रहनेसे विलासिता बढ़ती है।

दुःखी मनुष्यको निश्चय करना चाहिये कि जिस भूलके कारण यह दुःख प्राप्त हुआ है, उसे नहीं दुहराऊँगा तथा उस प्राप्त दुःखका सदुपयोग करे अर्थात् देहाभिमान और संसारके सम्बन्धको दुःखप्रद समझकर उससे असंग हो जाय।

जो मनुष्य प्राप्त अनुकूल परिस्थितिका दुरुपयोग करता है, उसके जीवन में प्रतिकूल परिस्थिति अवश्य आ जाती है। अतः

साधकको उसका सदुपयोग करना चाहिये।

साधकको विश्वास रखना चाहिये कि जीवन स्वयं अपनी रक्षा करता है। यदि जीवन शेष है तो जीवनके साधन स्वयं प्राप्त हो जायँगे।

परिस्थितिका परिवर्तन होना अनिवार्य है। सदैव एक-सी परिस्थिति नहीं रह सकती। अतः साधकको चाहिये कि जो परिस्थिति सामने है, उसमें मुझे क्या करना है, इसपर विचार करे।

प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें चरित्रबल और सुख—इन दोनोंका संघर्ष रहता है। जो सुखभोग चाहता है, उसीको महत्त्व देता है, वह चरित्रकी रक्षा नहीं कर सकता। अतः साधकको चाहिये कि वह चरित्रको आदर दे। भारी-से-भारी कठिनाई से न डरे। उसका सामना करके अपने चरित्रकी रक्षा करे। ऐसा करनेसे साधक कठिनाई से पार हो सकता है। अतः साधकको चाहिये कि धैर्य रखे। कठिनाईयों से भयभीत न हो। कठिनाई से ही उन्नतिका मार्ग खुलता है।

चरित्रवान् मनुष्यके कर्म दूसरोंके लिये विधान बन जाते हैं अर्थात् आदर्श बन जाते हैं। आचरणमें इस प्रकारके सद्भावको ही चरित्रबल कहते हैं।

चरित्रबल, *विवेकबल और विश्वासबल*-इन तीनोंकी जीवनमें *एकता होनेपर अर्थात्* जैसा विवेक हो, वैसा ही दृढ़ विश्वास हो और उन दोनोंके अनुरूप आचरण हो, तब साधकको वास्तविक सफलता *मिलती है।*

संसार और शरीरकी अनित्यताको समझकर यह निश्चय कर लें कि शरीरमें मैं नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है। इसका नाम विवेक है। जहाँ विवेकबल होगा, वहाँ निर्वासना अवश्य आ जायगी। वासनाके जालमें फँसा हुआ प्राणी ही करने योग्य और न करने योग्य सब प्रकारके आचरण करता है। परंतु जहाँ निर्वासना आ जाती है, वहाँ चरित्रबल अपने-आप सुरक्षित रहता है। विवेकशील मनुष्यको किसी प्रकारका भय या प्रलोभन अपने कर्त्तव्यसे नहीं डिगा

सकता। अतः साधकको चाहिये कि कठिनाई से घबराये नहीं, भयभीत न हो, किन्तु विवेकबलसे काम ले और धैर्यपूर्वक कर्त्तव्यका पालन करे।

संसार सुख और दुःखसे मिला हुआ है। न तो कोई पूर्ण सुखी है न तो पूर्ण दुःखी है, क्योंकि जो सचमुच पूर्ण दुःखी हो जाता है, उसके दुःखीको दुःखहारी भगवान् खा जाते हैं और पूर्ण सुखी वह है जो संसारसे अतीत है। संसारको अनित्य कहने वाले मनुष्य भी सुखके प्राप्तिकाल में उसका उपभोग करते रहते हैं और दुःखकी प्राप्ति में सुखके पीछे दौड़ते हैं। अतः उस सुखलोलुप मनुष्यको सुख-दुःखकी वास्तविकताका अनुभव नहीं होता। अतः साधकको चाहिये कि जिसको वह अनित्य समझता है, उससे विमुख होकर नित्यके सम्मुख हो जाय एवं प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करे, दुरुपयोग न करे।

जब मनुष्य सचमुच संसारसे निराश हो जाता है, उसे संसारसे किसी प्रकारके सुख की आशा नहीं रहती, तब उसका संसारसे वैराग्य हो जाता है। सुखकी लालसा में फँसे हुए प्राणीके जीवनमें वैराग्यका उदय नहीं होता। अतः साधकको अपने मनमें ऐसी भावना करनी चाहिये कि 'हे सुख ! अब मैं कभी तुम्हारे पीछे नहीं दौडूँगा। तुमने मेरी बहुत दुर्दशा की है। अब मैं तुम्हारी आशा नहीं करूँगा।'

जबतक मनुष्य संसारसे कुछ लेना चाहता है, उसका दास बना रहता है, तबतक उसके दुःख नहीं मिट सकते। करोड़पति और बड़े-से-बड़ा सम्राट हो जानेपर भी दुःखोंका अन्त नहीं होता। अतः साधकको चाहिये कि संसारकी चाहको मिटाकर चरित्रबल, विवेकबल और विश्वासबलको दृढ़ करे। चरित्र, विवेक और विश्वासका बल दुःखको मिटा देता है।

भारी-से-भारी कठिनाई सहन करके चरित्रको शुद्ध रखनेसे चरित्रबल बढ़ता है। चरित्रबलमें ही उसका निवास है। इससे उत्तरोत्तर सहनशक्ति बढ़ती है। विवेकबलसे त्यागकी शक्ति बढ़ती है और विश्वाससे समर्पण-भावका उदय होता है। साधकमें ये

अवश्य हों। इन तीनोंका होना ही जीवन है। इनके बदले में सब प्रकारके सुखों का त्याग किया जा सकता है। संसारकी बड़ी-से-बड़ी कोई भी वस्तु या कोई भी अधिकार ऐसा नहीं है जो इनके बदलेमें नहीं दिया जा सकता हो। अधिक क्या, शरीर तक को देकर भी इनका पालन करना चाहिये।

चरित्रबलसे विवेकबलका महत्त्व अधिक है। विवेकबलसे भी विश्वासबल महत्त्व अधिक है, क्योंकि बिना विश्वासके विवेक, विकल्परहित नहीं हो पाता और चरित्रमें दृढ़ता नहीं आती। विश्वास दोनोंको सुरक्षित रखता है।

साधकको चाहिये कि मनकी कामनापूर्तिके लिये विश्वास, विवेक और चरित्रबलका प्रयोग न करे। इनकी अमूल्य शक्तिका अनित्य वस्तुओंके लिये व्यय न करे। ईमानदारी और परिश्रमको कभी न छोड़े। सांसारिक वस्तु और व्यक्तियोंका संयोग और वियोग तो होता ही रहेगा। उसका कोई महत्व नहीं है।

संसारकी चाह रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं होता और बिना चित्तकी निर्मलताके दुःख नहीं मिट सकता। अतः सुखभोगकी इच्छाका त्याग अनिवार्य है। परंतु साधारण मनुष्योंको इसका त्याग मृत्युके तुल्य प्रतीत होता है।

धर्मके विश्वाससे ही चरित्रबल सुरक्षित रहता है। उसके बिना वह नहीं रह सकता। संसारकी असलियतको समझ लेनेपर विवेकबलकी प्राप्ति होती है, किंतु धर्म और विवेक भी ईश्वरविश्वाससे ही पुष्ट होते हैं और सुरक्षित रह सकते हैं। हरेक परिस्थिति में ईश्वर-विश्वास ही काम करता है। उसीके बलपर मनुष्य अपने लक्ष्यतक पहुँच सकता है।

सांसारिक व्यक्तियोंका विश्वास बड़ा भयानक सिद्ध हुआ है। इनपर विश्वास करके मनुष्य बहुत धोखेमें आ जाता है। अधिक क्या, साधकको तो अपने शरीर, मन और बुद्धिपर भी विश्वास नहीं करना चाहिये। विश्वासके योग्य तो एकमात्र ईश्वर ही है।

व्यक्तियोंपर विश्वास न करनेका यह मतलब नहीं है कि साधक उनके दोषोंको देखे या उनको बुरा समझे, ऐसा कहीं नहीं होना चाहिये। किसीको भी बुरा नहीं समझना चाहिये, परंतु किसी कर्त्तव्यके लिये उनपर निर्भर नहीं रहना चाहिये।

जबतक मनुष्य संसारपर विश्वास करता है, उसको अपना मानता रहता है, तबतक वह खतरे से खाली नहीं है। संसारकी सब चीजें धोखा देती हैं। शरीर, बुद्धि, धन और कुटुम्बी आदि जो कुछ मिला है, वह अवश्य छूट जायगा। अतः कामनापूर्ति के लिये ईश्वरविश्वासका उपयोग करना भूल है।

ईश्वरविश्वास तो साधकका जीवन होना चाहिये। उसके बिना और कोई भी अपना नहीं है। और किसीसे साधकका काम नहीं चलेगा। ईश्वरविश्वासपूर्वक भोगवासनाके त्यागसे ही दुःख दूर होता है। अतः भगवान्‌पर निर्भर होकर साधकको चरित्रबल की रक्षाके लिये बड़े-से-बड़े दुःखको उत्साहपूर्वक सहन कर लेना चाहिये।

प्राप्त वस्तुओंमें आसक्ति और अप्राप्तका चिन्तन-यही सुखकी लोलुपता और दरिद्रता अर्थात् अभाव है। इसके रहते हुए दुःख नहीं मिट सकता। दुःख मिटनेके लिये निर्लोभी, निर्मोही और अभिमानरहित होना आवश्यक है, जो ईश्वरपर निर्भर होनेसे ही सहज है।

दुःख मनुष्यको दुःखहारीसे मिलाने के लिये आता है। अतः वह जबतक दुःखहारीसे मिला नहीं देता, तबतक जाता नहीं। सुख-की लोलुपताका नाम दुःख नहीं हैं। यह तो होते और मिटते रहनेवाला है। असली दुःख तो भगवान्‌की कृपाका फल है, जो उनसे मिलाकर ही छोड़ता है।

साधकको कामनापूर्तिकी आशा छोड़कर ईश्वरपर निर्भर होना चाहिये। कामनाका नाश करनेके लिये ईश्वरका खूब भजन करना चाहिये। ईश्वर-विश्वासके बिना विवेकबल और चरित्र-बल कुछ नहीं टिक सकता। अतः साधकको दृढ़ निश्चय रखना चाहिये कि ईश्वर मुझे जिसे स्थिति में रखेगा, उसीमें मैं प्रसन्न रहूँगा। उसकी प्रसन्नता

ही मेरी प्रसन्नता है।

सुखका सदुपयोग करनेवालेको कभी दुःख नहीं मिलता। सुखका सदुपयोग करनेवालेको आनन्द अवश्य मिल जाता है। कामनाकी निवृत्तिसे जिज्ञासाकी पूर्ति होती है। भगवान्‌की आज्ञा ही कर्म है।

ईश्वरभक्तके सामने पहाड़के समान कार्य आवे तो भी उसे बोझा मालूम नहीं होता। जिसका काम है वह जाने, भक्त तो भगवान्‌का सिपाही है। आज्ञाका पालन करना यही एकमात्र उसका उद्‌देश्य है। शक्ति और सामग्री तो सब उसकी है। फिर भक्तको बोझा क्यों मालूम दे ? भोगोंकी दासतासे रहित होना ही वैराग्यका स्वरूप है। साधकको चाहिये कि सुख-दुःखके सदुपयोग को न भूले। मनमें किसी प्रकारकी चिन्ता, विलाप और भय न रहे। मन विश्वाससे भरा हो, हृदय प्रीतिसे भरा हो, बुद्धिमें भगवान्‌की महिमा भरपूर हो।

(१८)

प्रश्न—मोह और प्रेममें क्या भेद है ?

उत्तर—मोहका सम्बन्ध शरीरसे होता है, प्रेमका सम्बन्ध आत्मा और परमात्मासे होता है । मोहसे तो मनुष्य वियोगकालमें दुःखी होता है, किन्तु प्रेम वियोगकालमें अधिक चमकता है। मोह फँसानेवाला है, प्रेम सब प्रकारके बन्धनोंसे छुड़ानेवाला है।

प्रश्न—अपनी योग्यताको समझकर साधक अपने साधनका निर्माण कैसे करे ?

उत्तर—विवेकशक्ति, क्रियाशक्ति और भावशक्ति-इन्हींके आधारपर योग्यताका पता लगता है। योग्यतामें भेद होता है। रुचिमें अधिक भेद नहीं होता। सभी साधक चाहते हैं कि जो सबसे अच्छी चीज हो, वही हमें मिले। सबसे अच्छी चीज एक ही होती है। उसमें प्रकारभेद हो सकते हैं, परंतु वस्तुभेद नहीं होता। योगी उसीको 'योग' कहता है, विश्वासी उसीको 'ईश्वर' कहता है, विवेकी उसीको 'बोध' कहता है। योग्यता और रुचिके अनुसार ही साधनका निर्माण

होता है।

साधकको चाहिये कि अपनी योग्यता और रुचिका ठीक-ठीक अध्ययन करे। उसमें अपनेको धोखा न दे अर्थात् दूसरोंकी ओर देखकर योग्यता और रुचिसे विरुद्ध साधनका लालच न करे।

रुचि साधकमें स्वाभाविक होती है, वह किसी दूसरे से प्राप्त नहीं होती। समझ दूसरेसे प्राप्त हो सकती है और होती है। अतः साधकको अपने स्वभावका अध्ययन करना चाहिये। दो व्यक्तियोंका स्वभाव भी सर्वथा एक-सा नहीं होता।

इसलिये योग्यता और स्वभावके भेदसे साधनमें भेद होगा, परंतु सफलता में सबकी एकता हो जायगी। उपायमें भिन्नता और फलमें एकता इसीका नाम 'साधन' है।

सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति कर्मके फलस्वरूप होती है। इसलिये कर्मके फलमें एकता नहीं होती। अपनी योग्यताके अनुसार जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है, परंतु सबसे श्रेष्ठ वस्तुके लिये अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये जो साधन किया जाता है उसके फलमें भेद नहीं होता।

साधकको विचार करना चाहिये कि क्या मैंने अपनी प्राप्त शक्तिका सदुपयोग कर लिया है या कमी रखी है ? विचार करनेपर मालूम होगा कि कमी रखी है। मैंने अपनेको पूरा नहीं लगाया है।

प्रत्येक मनुष्य अपने मनमें भरी हुई बातोंको पूरे-पूरे ढंगसे बाहर नहीं निकालता, किंतु ऊपरसे कुछ-न-कुछ भरता रहता है, अतः साधकको चाहिये कि अपने मनको टटोले, उसमें क्या-क्या भरा है, उसे भली भाँति देखे और सोचे कि मुझमें कौन-सी ऐसी असमर्थता है, जिसने मुझे अपने लक्ष्यतक नहीं पहुँचने दिया। अवश्य ही मुझे किसी ऐसे सुखमें रस आता है, जिसने मुझे फँसा रखा है। इस प्रकार सोचकर उस रुकावटको विवेक-बल से अथवा विश्वास-बल से दूर करे, तभी वह साधनमें अग्रसर हो सकता है।

आश्चर्य तो इस बातका है, साधकको जो कुछ करना चाहिये

उसे करता भी नहीं और न करनेके दुःखसे दुःखी भी नहीं होता। वह जितना समय और मन अनावश्यक कामोंमें लगाता है, उतना अपने लक्ष्यकी पूर्तिके लिये नहीं लगाता। यदि साधक अपने मनकी वास्तविकताको विवेकके प्रकाशमें खोलकर रखे तो उसे मालूम होगा कि मेरे मनमें बहुत-से ऐसे संकल्प भरे हैं जिनको मैं न तो पूरा करता हूँ और न मिटाता ही हूँ। यही कारण है कि मेरा मन संकल्पों के जालमें फँसा रहता है और शुद्ध नहीं हो पाता। चित्त शुद्ध न होनेके कारण ही मुझे अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें विलम्ब हो रहा है।

मनुष्य अपने मनके असली फोटोको छिपाता चला जाता है और वह जो जानता है उसके विपरीत आचरण करता है। साधारण मनुष्योंमें और संतमें यही अन्तर होता है कि संत तो जैसा जानता है, वैसा मानता है और जैसा मानता है, वैसा करता है, परंतु साधारण व्यक्ति ऐसा नहीं करता। अतः साधकको संतोंका अनुकरण करना चाहिये।

मनुष्यकी स्थिति सदैव एक-सी नहीं रहती, बदलती रहती है। अतः साधकको सोचना चाहिये कि जब मैं वर्तमान स्थितिसे अलग हो जाऊँगा, तब कहाँ और कैसे रहूँगा ? इसका विवेकपूर्वक अध्ययन करनेसे साधक प्राप्त स्थितिसे ऊपर उठनेके लिये अग्रसर हो सकता है।

संसारकी रुचि हमेशा बदलती रहती हैं। एक रुचिकी पूर्ति होते ही दूसरी पैदा हो जाती है। इस प्रकार रुचिकी उत्पत्ति और पूर्तिके जालमें प्राणी फँसा रहता है। जिसको वह बुरी बात समझता है, उसे भी करता रहता है, परंतु रुचिकी पूर्तिके रससे मोहित रहनेके कारण उसके करनेका दुःख नहीं होता और जो सबसे अच्छी चीज है, उसे न पानेका भी दुःख नहीं होता। इसीलिये साधक अपने लक्ष्यकी ओर नहीं बढ़ पाता। यदि उसके जीवनमें वास्तविक दुःखका उदय हो जाय तो उसे बहुत शीघ्र लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकती है।

जिस चिन्तनको मनुष्य विचारके द्वारा व्यर्थ समझता है, जिसमें मनको नहीं लगाना चाहता, उसमें तो उसका मन लगा रहता है और

जिसमें लगाना चाहता है, उसमें नहीं लगता, तथापि वह दुःखी नहीं होता। इसका एकमात्र कारण यही है कि अपने लक्ष्यके महत्त्वको न जाननेके कारण उसकी आवश्यकताका उसे ज्ञान नहीं है। इसलिये उसकी तीव्र लालसा नहीं है।

अतः साधकको चाहिये कि भगवान्‌की महिमाको समझे और उसपर पूरा विश्वास करे एवं अपनी लालसा को सजीव बनावे तथा जबतक वह पूरी न हो जाय, तबतक चैनसे न रहे।

सांसारिक सुख आनेपर उपभोग में जड़ता आती है। सुखभोग में लगे रहनेवाले मनुष्यकी विवेकशक्ति सो जाती है। अतः साधकको कभी सुखभोग में नहीं रमना चाहिये।

मनुष्यके मनकी सब बातें भगवान् पूरी नहीं होने देते। इसमें भी उनकी कृपा भरी हुई है। यदि उसके मनकी सब बातें पूरी होने लगें तो ऐसी भयानक स्थिति पैदा हो जाय जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसपर एक कहानी है-

एक गृहस्थ परिवार में तीन व्यक्ति थे। एक पिता, दूसरी उसकी पत्नी, तीसरा उनका लड़का। वे तीनों बड़े दुखी थे। उनके अभावकी पूर्ति नहीं होती थी। शिव और पार्वती उधरसे निकले तो पार्वती ने कहा-'इनको ऐश्वर्य प्रदान करके सुखी बना दीजिये।' तब शिवजी ने कहा-'ये लोग सुखी होना नहीं चाहते।' परंतु यह बात पार्वतीकी समझ में नहीं आयी। तब शिवजीने पहले स्त्रीसे कहा, 'तुम जो चाहो, अच्छे-से-अच्छा वर माँग लो। उसने कहा, मैं चौदह वर्षकी बड़ी सुन्दर रूपवती और तन्दुरूस्त हो जाऊँ।' शिवजी ने कहा, 'ठीक है।' वह वैसी ही हो गयी। फिर उसके पति से कहा कि 'तुम भी वर माँग लो ।' तब पतिने सोचा कि 'यह स्त्री तो मुझ बूढ़ेको छोड़कर दूसरा पति करना चाहती है।' अतः उसने वर माँगा कि 'यह सूकरी हो जाय ' तब वह सूकरी हो गयी। उसके बाद लड़के को वर माँगने के लिये कहा। उसने माँगा-'हमलोग जैसे पहले थे वैसे ही हो जायँ।' तब वैसे ही हो गये। शिवजीने पार्वतीसे कहा, 'तमाशा देख लिया' ये लोग कहाँ सुखी होना चाहते हैं ?'

अतः यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यको अपने वास्तविक सुख-दुःखका ज्ञान नहीं है। वह अपने मनकी बात पूरी होनेको सुख और पूरी न होनेको दुःख मानता है। जब मनुष्य सचमुच दुःखी हो जाता है, तब उसकी किसी प्रकारके सुखभोग में प्रवृत्ति नहीं होती और भोगवासनाका अन्त हो जाता है। संसार से अरुचि हो जाती है। वह दुःख मनुष्यको प्रभुसे मिला देता है, क्योंकि सुखभोगकी रुचि और प्रवृत्ति से ही मनुष्य भगवान्‌से विमुख होता है और भोगवासनाकी निवृत्ति से भगवान्‌के सम्मुख और संसारसे विमुख होता है।

जिसको लोग जीवन कहते हैं वह जीवन नहीं है। वह तो मृत्युका ही दूसरा नाम है। एक अवस्थाकी मृत्युको ही दूसरी अवस्थाका जन्म कहते हैं। जैसे बीजकी मृत्यु और पौधेकी उत्पत्ति, बाल्यावस्थाकी मृत्यु और कुमार एवं यौवनावस्था की क्रम से उत्पत्ति। इनमें कोई भी अवस्था स्थायी नहीं है। हरेक क्षण में परिवर्तन होता है। परिवर्तनका ही नाम मृत्यु हैं। अतः वह जीवन नहीं है। असली जीवन तो वह है जिसमें मरनेका डर नहीं है, परंतु लोग इस परिवर्तनशील अवस्थाको ही जीवन मानने लगे हैं। एवं शरीर-इन्द्रियोंके साथ विषयोंके सम्बन्धको ही उन्होंने सुख मान रखा है। वास्तव में शरीर तो हाड़-मांस और मल-मूत्रकी एक थैली है। इसकी चाह ने आत्माकी चाहको अर्थात् अमर जीवनकी लालसाको ढक रखा है। भोगकी चाह ने मनुष्यको ईश्वरसे विमुख कर रखा है।

साधकको चाहिये कि इन्द्रियों और विषयों के सम्बन्धसे होनेवाले सुख-भोगकी चाहको मिटाकर भगवान्‌के सम्मुख हो जाय। विचार करनेपर मालूम होगा कि सब चीजोंके रहते हुए भी अभावका अनुभव होता है। इच्छाओंकी पूर्ति नहीं होती। संयोगका अन्त होकर वियोग अवश्य आयेगा। सभी वस्तुएँ अनित्य हैं, उनका संयोग कैसे रह सकता है ?

जिसके मनमें शरीरको बनाये रखनेकी रुचि है, जो शरीरको ही अपना स्वरूप मानता है, वह ईश्वरको प्राप्त नहीं कर सकता। जो वियोगको अपनाता है, उसे योग और वैराग्यकी प्राप्ति होती है,

क्योंकि संसारका चिन्तन टूटनेसे ही योग सिद्ध होता है। अतः साधकको चाहिये कि जो चीज उसे छोड़ती है, उसे पकड़े नहीं।

प्राप्त कर्त्तव्यको भगवान्‌के नाते ठीक-ठीक पूरा कर देनेसे जीवनमें सुन्दरता आती है। सेवासे संसारमें सुन्दरता आती है। अतः साधकको चाहिये कि जो काम वह कर सकता हो, उससे अपनेको बचाये नहीं। जो संकल्प पूरा करने योग्य हो, उसे पूरा कर दे और जो पूरा करने योग्य न हो उसे मिटा दे।

जीवनमें दोष का होना मनुष्यकी भूल का परिणाम है, परंतु निर्दोषताकी माँग ही उसका पुरुषार्थ है। यदि साधकके हृदयमें दोष-उत्पत्तिका गहरा दुःख हो तो दोष अवश्य मिट जायगा। गहरे दुःखसे योगीको योग, भोगीको वैराग्य होकर प्रभु-मिलनका मार्ग मिलेगा।

(१६)

प्राणीका शरीरसे सम्बन्ध होनेके कारण जगत्‌से सम्बन्ध हुआ है। संसारका काम जैसे करना चाहिये, ठीक ढंगसे उसे पूरा कर देनेसे करनेकी वासना मिटती जाती है और न करनेकी स्थिति प्राप्त हो जाती है अर्थात् साधकको सफलता मिल जाती है।

हरेक कार्यमें मनुष्य दूसरोंकी गलती बताकर अपनेको निर्दोष साबित करना चाहता है। इससे उसका सुधार नहीं होता और आपसमें विवाद पैदा होता है। अतः साधकको चाहिये कि अपनी गलतीका अनुभव करे, ऐसा करनेपर उसका सुधार होता है।

भीतर दीनता रहते हुए भी मनुष्य ऊपर से बनावट करके अपनेको अच्छा दिखाना चाहता है और अच्छाई का अभिमान करता है। वास्तवमें दीनता और अभिमान दोनोंही साधनमें विघ्न हैं। अतः साधकको चाहिये कि दीनता और अभिमान दोनोंको मिटा दे।

प्रश्न—दीनता और अभिमान कैसे मिटे ?

उत्तर—अपने प्रभुके सम्मुख दीन होना, वह दीनता नहीं है,

जिसको मिटाना है। मिटाना तो उस दीनताको है, जिससे मनुष्य संसारकी दृष्टिमें दीन हो रहा है। अपनेसे अधिक दुःखियोंको देखने पर दीनता का दुःख और अधिक सुखियों को देखने पर अभिमान मिटता है, परंतु यह असली उपाय नहीं है। अपने प्रभुके सम्बन्धसे जो दीनता और अभिमानको मिटाया जाता है, वही दीनता और अभिमानको सर्वथा मिटा देना है। भाव यह है कि अपनेको भगवान्‌का समझ लेनेके बाद दीनता नहीं रहती और सबको भगवान् का समझने के बाद किसी वस्तु, परिस्थिति और शक्ति आदिका अभिमान नहीं रहता। जो प्राणी वास्तव में सम्मानके योग्य न होनेपर भी सम्मान चाहता है, वह मानकी दासतामें फँस जाता है, उन्नति नहीं कर पाता।

प्रश्न–सबसे अच्छी पुस्तक कौन-सी है ?

उत्तर–जबतक मनुष्य अपनी वर्तमान दशाका अध्ययन नहीं कर लेता, तबतक ग्रन्थके अध्ययनसे लाभ नहीं उठा सकता। जो अपनी दशाका अध्ययन करता है, उसको ग्रन्थसे उस बातका समर्थन मिलता है और संदेह दूर होकर दृढ़ता आ जाती है। जिस ग्रन्थकी मूल भाषाको मनुष्य समझ सकता हो, वह उसके लिये ठीक है। यदि मूल समझमें न आये तो जिस आचार्यपर उसका विश्वास हो, उसका बताया हुआ अर्थ मानना ठीक है, क्योंकि भाषान्तर करनेवालोंके भावका अर्थमें मिश्रण हुए बिना नहीं रहता। सभी आचार्य जो बात करनेके लिये कहेंगे, उसमें विशेष अन्तर नहीं होगा, किन्तु मान्यतामें अन्तर होगा। अतः जिसपर विश्वास हो, उसकी मान्यताका अनुसरण करना चाहिये।

विचार करनेपर मालूम होता है कि ऐसी कोई बात ग्रन्थ या उपदेशक साधकको नहीं बता सकता जो वह स्वयं नहीं जानता है। अतः साधकको सबसे पहले बिना किसी पक्षपातके अपने जीवनका अध्ययन करना चाहिये। 'स्व' का अध्ययन अर्थात् अपनी वस्तुस्थितिके अध्ययनका नाम ही स्वाध्याय है। जो काम मनुष्य दूसरोंसे अपने लिये नहीं चाहता, वह उसको दूसरोंके साथ नहीं करना चाहिये।

जैसे कठोर वाक्य हम दूसरोंसे सुनना नहीं चाहते तो किसीसे कठोर वचन बोलना भी नहीं चाहिये। हम सम्मान चाहते हैं, अपमान नहीं चाहते तो दूसरोंको सम्मान देना चाहिये, उनका अपमान नहीं करना चाहिये। जो अपना बुरा नहीं चाहता, उसे दूसरे किसीका बुरा नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार हरेक आचरणकी शिक्षा अपने जीवनके अध्ययनसे मिल सकती है।

इस प्रकार जब साधक अपने जीवनका ठीक-ठीक अध्ययन करके अपने आचारको ठीक कर लेता है, तब उसका जीवन सुन्दर बन जाता है। जो किसीका बुरा नहीं चाहता, उसका बुरा नहीं होता है। जो बलका दुरुपयोग नहीं करता, उसका बल घटता नहीं। अतः साधकको चाहिये कि किसीका बुरा न चाहे और परायी वस्तु लेनेकी इच्छा न करे।

केवल ग्रन्थों के पढ़नेसे और उपदेश सुननेसे मनुष्य बुद्धि द्वारा तो बहुत जान लेता है, परंतु उसके अनुसार अपना जीवन नहीं बना पाता। उसके मस्तिष्क में और हृदयमें बड़ी दूरी हो जाती है। इस कारण उसके लिये आगे बढ़ने की बात तो दूर रही, अपने स्थानपर डटे रहना भी मुश्किल हो जाता है। जैसे किसीका दाहिना पैर तो बहुत आगे निकल जाय और बायाँ बहुत दूर रह जाय तो वह न आगे चल सकता है और न खड़ा ही रह सकता है, वही हाल उसका होता है। अतः साधकको चाहिये कि बुद्धि और हृदयकी दूरीको हटाकर दोनोंकी एकता करे अर्थात् अपनी जानकारी के अनुसार जीवन बनाता रहे और उसके बाद आगेकी बात जाननेकी कोशिश करे।

विद्या और शिक्षा में बड़ा अन्तर होता है। पण्डित जिस बातको पढ़ाईके द्वारा सीखता है, संत उसको अनुभवसे जानता है। सीखी हुई बात स्मृतिके रूपमें होती है। जानी हुई बात जीवन बन जाती है। चित्त शुद्ध होनेपर जो ज्ञान प्राप्त होता है, वही ठीक ज्ञान है। केवल शिक्षाद्वारा प्राप्त जानकारी ज्ञान नहीं है। उससे तो अभिमान बढ़ता है, जो कि साधनामें विघ्न है।

जब इन्द्रियोंका ज्ञान बुद्धिमें विलीन हो जाता है, तब चित्त शुद्ध होता है और जब बुद्धिका ज्ञान इन्द्रियोंमें विलीन हो जाता है अर्थात् जब मनुष्य अपनी जानकारीका अनादर करके इन्द्रियोंके ज्ञानको ही ज्ञान मान लेता है और इन्द्रियोंके भोगमें ही रचा-पचा रहता है, तब चित्त अशुद्ध हो जाता है। इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव बुद्धिपर पड़ते रहनेसे बुद्धि विषम रहती है, उसमें समता नहीं आती। प्रभुका प्रेम तो बुद्धिके ज्ञानसे भी परेकी बात है। जब बुद्धिके ज्ञानमें अहं गल जाता है, तब साधकको आगेका मार्ग मिल जाता है। अतः साधकको चाहिये कि बुद्धिके ज्ञानसे इन्द्रियोंके ज्ञानपर विजय प्राप्त करके बुद्धिको सम बनाये और उसमें अहंको गला दे।

भाषाकी जानकारीमें और वास्तविक ज्ञानमें बड़ा अन्तर है। भाषाके ज्ञानसे जो शिक्षा मिलती है, उससे जीवनकी शिक्षाका महत्त्व अधिक है। भाषाकी शिक्षा न होने पर भी जीवन शिक्षित बन सकता है। जिसके जीवनमें सदाचार आ गया है, वही सदाचारका सच्चा शिक्षक है। जिसको केवल पुस्तकों का ज्ञान है, वह आचार की शिक्षा नहीं दे सकता।

इसी प्रकार आनन्द और सुखमें भी बड़ा अन्तर है। सुखसे आसक्ति बढ़ती है और वह दुःखके रूपमें बदलता है। आनन्द सदा एकरस और अखण्ड होता है। उसका कभी अभाव नहीं होता।

इन्द्रियोंके ज्ञानकी आसक्तिसे वास्तविक ज्ञान ढका रहता है। अतः साधकको चाहिये कि बुद्धिके ज्ञानसे इन्द्रियोंके ज्ञानको दबाकर चित्तको शुद्ध करे।

शिक्षासे जीवनमें सुन्दरता आती है, परंतु उससे अविद्याका नाश नहीं होता। अविद्याका नाश तो विद्यासे ही होगा अर्थात् यथार्थ ज्ञानसे ही होगा। जो साधक सबसे अलग होकर अर्थात् सबका आश्रय त्यागकर मौन हो जाता है, उसको वह विद्या प्राप्त होती है जिससे अविद्या दूर होती है। जो 'है' (परमात्मा) उसका बोध और जो नहीं है, (संसार) उसकी निवृति-इसीका नाम विद्या है।

भीतर और बाहर सब ओरसे मौन होनेका नाम मौन है। अर्थात् मन, बुद्धि और अहं-इन सबके मौनको यहाँ मौन कहा गया है। अहंकृतिका नाश और अहंकी स्फूर्तिका मौन होनेपर जो जीवन बनता है, वही अमर जीवन है।

श्रम, संयम, सदाचार और सेवा-ये चारों जीवनको सुन्दर बनानेवाली शिक्षाके अंग हैं एवं त्याग और प्रेम विद्याके अंग हैं।

छोटी-छोटी बातोंमें गलती करनेसे मनुष्यकी आदत बिगड़ जाती है, वह अपने जीवनको सुन्दर नहीं बना पाता।

साधकको चाहिये कि साधनमें शिथिलता न आने दे। आलस्यका आदर और संयमका त्याग करने से साधनमें शिथिलता आती है। गुणसे तो मनुष्यका विकास होता है और गुणोंके अभिमानसे पतन होता है।

विद्याके फलका वर्णन नहीं किया जा सकता। त्याग और प्रेमसे संसारका कल्याण होता रहता है। जो सच्चा त्यागी होता है, जिसमें त्यागका अभिमान नहीं होता, उसीसे त्यागकी शिक्षा मिलती है।

(२०)

प्रश्न—व्रजमें लोग कहते हैं-पुरुष तो एक श्रीकृष्ण ही हैं, अन्य सब स्त्री हैं, इसका क्या भाव है?

उत्तर—जो स्वयं सब प्रकारसे पूर्ण हो और दूसरेको पूर्ण बनानेमें समर्थ हो-वह पुरुष है एवं जिसको पुरुषकी आवश्यकता है, लालसा है-वह स्त्री है। इस अर्थके अनुसार ईश्वर तो पुरुष और जीव स्त्री-यह परिभाषा होती है। यह बात मीराँजीने जीवगोस्वामीसे कही थी। जब मीराँजी श्रीवृन्दावन गयी थीं, तब जीवगोस्वामीजीसे मिलने के लिये उन्होंने संदेश भेजा। गोस्वामीजी ने उत्तर कहलाया कि मैं स्त्रियोंसे बातचीत नहीं करता। इसके उत्तरमें मीराँजीने कहलाया कि मैंने तो सुना था कि पुरुष एक श्रीकृष्ण ही हैं, फिर इस व्रजमें आप दूसरे पुरुष कहाँसे आ गये? यह उत्तर सुनते ही उन्होंने

मीराँजीसे बातचीत करना स्वीकार कर लिया।

प्रश्न—कान्ताभाव किसको कहते हैं ?

उत्तर—भगवान्‌को अपना प्रियतम और अपनेको उनकी प्रिया मानकर जिस साधनका आरम्भ होता है, उसे कान्ताभाव कहते हैं। इसीको माधुर्यभाव भी कहते हैं। इस भावमें दास्य, सख्य और वात्सल्य आदि सभी भावोंका समावेश है। इस कारण यह सबसे ऊँचा कहा जाता है। प्रेमकी अवस्थाका नाम भाव है। वास्तवमें कोई भाव छोटा-बड़ा नहीं होता। अपने-अपने अधिकारके अनुसार सभी ठीक हैं। स्त्री जब पतिकी सेवा करती है, तब दासी होती है, भोजन कराती है, तब माताका काम करती है, पति को सलाह देती है, तब सखी होती है और जब प्रेम करती है, तब कान्ता होती है। जैसे-जैसे संकोच कम होता जाता है, वैसे-वैसे भावका परिवर्तन होता जाता है। कान्ताभावमें संकोचका सर्वथा अभाव है। प्रेमी और प्रेमास्पदमें अभिन्नता हो जाती है।

प्रश्न—साधनमें तत्परता कैसे हो ?

उत्तर—तत्परता ही तो साधन है। असलमें तो साधक कहना ही उसे चाहिये, जिसमें पूर्ण तत्परता हो, परंतु कोई साधक बननेको तैयार हो तब न तत्परताका प्रश्न उठे। पहले कोई अपनेको साधक माने और साधन करनेका इच्छुक होवे।

जबतक मनुष्य साध्यसे अपनी दूरी समझता है, उसे यह विश्वास नहीं होता कि साध्य मेरी ही जातिका है, वह मुझे वर्तमानमें ही मिल सकता है, वह मुझसे भी अधम साधकसे मिला है और मिलता है, तबतक साधनमें प्रवृत्ति और तत्परता नहीं होती। वह समझता है कि साधन करते-करते कभी जन्ममें साध्य मिलता होगा। इस कारण प्राप्त सुख-भोगकी चाहका त्याग नहीं करता, इसलिये उसकी साधनमें तत्परता नहीं होती।

यदि साधकको यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि मेरा साध्य मुझे वर्तमानमें, अभी, इसी समय प्राप्त हो सकता है और मैं जो कुछ

साधन कर सकता हूँ, उसीसे मिल सकता है तो उसकी साधनमें तत्परता हो सकती है। जितना विश्वास दृढ़ होता है, उतनी ही तत्परता अधिक होती है।

योग्यता और रुचिके अनुसार ठीक-ठीक साधनका निर्माण होनेसे साधनमें साधककी तत्परता होती है। अपने विवेकका आदर करके या सत्पुरुषोंसे परामर्श करके जब कोई साधनका निर्माण करनेकी ही चेष्टा न करे, तब तत्परता कैसे हो ? जो साधन भाररूप मालूम होता है, जिसमें रुचि और उत्साह नहीं है, वह वास्तव में साधन ही नहीं है।

प्राणी पहले से ही ऐसी धारणा कर लेता है कि क्या वर्तमान में और मेरे-जैसे साधारण प्राणीको भगवान् मिल सकते हैं ? अर्थात् यह मानो सम्भव ही नहीं है। पहले तो वह प्रत्यक्ष उदाहरण देखना चाहता है। यदि कोई उदाहरण मिल जाय तो भाग्यपर छोड़ देता है कि 'मेरा ऐसा भाग्य कहाँ, ये बड़े भाग्यवान् हैं, इनपर भगवान्‌की कृपा है। इनमें अमुक योग्यता है, अमुक सुविधा प्राप्त है, मुझमें तो कुछ भी नहीं, मुझे कैसे मिल सकते हैं ? इस प्रकार जो अप्राप्त योग्यताकी जरूरत मानकर स्वयं निराश हो जाता है, उसकी साधनमें रुचि और तत्परता नहीं होती।

जो साधक यह समझता है कि मेरी जैसी योग्यता है, मैं जो कुछ कर सकता हूँ, उसीका ठीक-ठीक उपयोग करनेसे भगवान् मिलेंगे। जो साधनको ही पहला काम समझता है, जिसको शरीरका विश्वास नहीं है, जो यह समझता है कि जीवनका क्या भरोसा, न जाने कब और किस कारणसे अचानक शरीरका नाश हो जाय, अतः मुझे तो अभी-वर्तमानमें ही अपने साध्यकी प्राप्ति कर लेनी है, उसकी साधनमें रुचि और तत्परता हो जाती है। उसे साधनमें परिश्रम मालूम नहीं होता। साधन ही उसका जीवन बन जाता है।

प्राप्त विवेकको शरीर और संसारकी असलियत जाननेके लिये लगाया जाय तो साधक इस बातको समझ सकता है कि शरीर और संसार मेरा नहीं है, इसका और मेरा सम्बन्ध माना हुआ है, वास्तविक

नहीं है, यह अवश्य टूटनेवाला है। इसमें सुख नहीं है। इस प्रकार जान लेनेपर साधक संसारसे विमुख हो जाता है। तब साधनमें रुचि और तत्परता होती है।

परंतु आजकल तो कोई साधक बननेको ही राजी नहीं है। यहाँ जो लोग आते हैं, सचमुच सत्संग करनेके लिये कौन आता है? किसीके मनमें कोई बात पूछनेकी नहीं आती। सचमुच सत्संग होता, सभी लोग अपने-अपने साधनमें आनेवाली अड़चनोंका समाधान करना चाहते तो इतने प्रश्न उठते कि उनका उत्तर देनेके लिये समय ही नहीं मिलता, किंतु वैसा कहाँ होता है ?

आजकल अपनेको साधक माननेवाला तो दूसरोंकी ओर देखता रहता है। अन्य साधक और वक्ताओंकी आलोचना करता है, अपने दोषोंका निरीक्षण करके उनको मिटानेकी ओर उसका लक्ष्य भी नहीं आता। इसलिये साधनमें तत्परता नहीं होती।

सच्चे साधकको चाहिये कि अपने दोषोंको खोज-खोजकर निकाले। दूसरे के दोषोंको देखनेमें और उनकी आलोचनामें अपने अमूल्य समयको नष्ट न करे। जो काम करनेके लिये मिले, उसे छोटा न समझे, उत्साहपूर्वक पूरी शक्ति लगाकर भगवान्के नाते उसको ठीक-ठीक करे। मनमें यह भाव रखे कि मैं साधक हूँ, साधन कर सकता हूँ और करूँगा।

साधकको ऐसा नहीं मानना चाहिये कि अमुक वस्तु, व्यक्ति, अवस्था या परिस्थितिके न मिलनेके कारण साधन नहीं हो सकता है, या उस व्यक्तिने साधनमें विघ्न डाल दिया। उसे तो यही मानना चाहिये कि कोई भी व्यक्ति साधनमें विघ्न नहीं डाल सकता। भगवान् तो विघ्न डालते नहीं, सब प्रकारसे सहायता करते हैं और अन्य किसीकी सामर्थ्य नहीं है। अतः मेरी दुर्बलता ही विघ्न है।

वास्तवमें तो साधकका विश्वास और प्रेम ही साधनमें रुचि और तत्परता उत्पन्न करता है, साधनके लिये बाह्य सहायता आवश्यक नहीं है।

जो सचमुच साधक है, अपनेको साधक मानता है, वह कभी यह नहीं मानता कि मैं दुराचारी, कामी, लोभी, क्रोधी या मोही हूँ। जो अपनेको दुराचारी, कामी, क्रोधी, लोभी मानता है, वह अपनेको साधक नहीं मान सकता। मनुष्यकी मान्यता प्रतिक्षण बदलती रहती है। मान्यता और प्रवृत्ति दोनोंकी एकता हो औरे अपने को मनुष्य ठीक-ठीक साधक मान ले तो उसकी साधनमें तत्परता अवश्य हो जाती है।

जो साधक जिस समय पूजा, नित्यकर्म करता है, उसको तो साधन मानता है और दूसरे कामोंको साधन नहीं मानता, वह निरन्तर साधन नहीं कर सकता। पूजा करते समय भी उसका मन दूसरा काम करता रहता है, इस कारण उसका कोई भी काम ठीक नहीं हो पाता।

इसलिये साधकको चाहिये कि करनेयोग्य हरेक कामको साधन समझे, छोटे-से-छोटा जो भी काम प्राप्त हो, उसे पूरी योग्यता लगाकर उत्साहपूर्वक जैसे करना चाहिये, ठीक-ठीक करे। उसमें तुच्छ बुद्धि न करे। जो काम भगवान्‌के नाते उनका काम समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं, वे सभी साधन हैं। अतः उसे समझना चाहिये कि माला फेरना, झाड़ू लगाना, कमरा साफ करना-ये सभी मेरे प्रियतमके काम हैं। इस भावसे काम करनेवाला साधक हरेक काम करते समय प्रसन्न होता रहता है, उसका हृदय प्रेमसे भरा रहता है, रोमांच और अश्रुपात होने लगता है। जब काम पूरा हो जाता है, तब प्रेममें डूब जाता है उस समय कोई संकल्प नहीं रहता।

साधककी जैसी जानकारी हो, उसके अनुरूप भाव हो और भावके अनुसार प्रवृत्ति होकर सबकी एकता हो जाय। अर्थात् प्रवृत्ति में भावकी प्रबलता रहने के कारण भावकी ओर बढ़ता रहे, भावसे विवेककी ओर बढ़ता रहे तो समझना चाहिये कि जीवन साधनकी ओर बढ़ रहा है। यदि जानकारी से भावकी ओर, भावसे प्रवृत्तिकी ओर गति हो अर्थात् प्रवृत्तिकी प्रधानता रह जाय तो समझना चाहिये कि साधनमें शिथिलता है।

आजकल तो यह देखा जाता है कि जब किसीको कोई काम करनेको कहा जाता है, तब मनमें क्षोभ पैदा होता है। वह समझता है कि मैं यहाँ सत्संग सुननेके लिये आया हूँ कि काम करनेके लिये, काम तो घरमें ही बहुत था। अतः वह कामको कुशलतापूर्वक नहीं कर पाता और उसकी काममें साधन-बुद्धि भी नहीं होती।

उससे यदि कहा जाय कि तुम काम नहीं कर सकते तो ध्यान करो तो कहता है कि ध्यानमें मन नहीं लगता। यदि कहें कि नाम-जप करो तो उसमें भी मन नहीं लगता। ध्यान और नाम-जप तो होता नहीं, कामको तुम साधन समझते नहीं-बताओ क्या करोगे ? उलटा करना तो साधन नहीं होता। इस प्रकार अपनी योग्यताको समझकर साधन न करनेवाला मनुष्य साधन नहीं कर पाता, क्योंकि उसकी साधनमें रुचि और तत्परता नहीं होती।

जो साधक करने योग्य हरेक कामको साधन मानकर भगवान्‌के नाते कुशलतापूर्वक करता है, उसको करनेके अन्तमें स्थिरता, योग, विवेक और प्रेम मिलता है। जो प्राणी मनकी कामना पूरी करनेके लिये सुख-भोगकी इच्छासे काम करता है, उससे उसका मन पुष्ट होता है, बुद्धि निर्बल हो जाती है, तब मन इन्द्रियोंको आधार बना लेता है, इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर चली जाती हैं। इस प्रकार वह भोगोंमें फँसा रहता है, साधन नहीं कर पाता।

अपने मनकी बात करना, दूसरोंके मनकी न करना-यह साधन नहीं है, किंतु भगवान्‌के नाते जो दूसरों के मनकी बात पूरी की जाती है, भक्तोंका और बड़ोंका आदेश मानकर जो काम किया जाता है, छोटोंको प्यार देनेके लिये उनके मनकी बात पूरी की जाती है, इसी प्रकार अपने मनकी बातको छोड़कर जो भगवान्‌के मनमें अपने मनको मिला दिया जाता है, जो कुछ करे भगवान्‌का काम समझकर उन्हींकी प्रसन्नताके लिये करे, वही साधन है।

संसार तो अपने अधिकारकी पूर्ति चाहता है। अतः साधकको चाहिये उसके अधिकारकी पूर्ति कर दे, अपना कोई अधिकार माने नहीं और संसारसे किसी प्रकारकी आशा न करे। इससे बुद्धिमें

समता एवं शरीर और संसारसे विरक्ति हो जाती है।

मनको पुष्ट नहीं बनाना है। मनका तो नाश करना है। कोई समझे कि 'मनका नाश हो जाने पर भगवान्का भजन कैसे करेंगे' तो ऐसी बात नहीं है। जब मन अमन हो जाता है, उसके बाद जो अपने आप भगवान्का स्मरण होता है, वही असली भजन है और वही साधन है। साधन मनसे नहीं होता, विवेकपूर्वक विश्वास और प्रेमसे होता है।

साधकका मन भगवान्का, गुरुका और दूसरोंका मन बन जाय, ऐसा जीवन ही वास्तविक जीवन है। जब प्राणी अपने मनकी बात पूरी करता रहता है, अपना मन दूसरेको देना नहीं चाहता, तब वह मन साधनमें उसकी तत्परता नहीं होने देता।

मनुष्ययोनि साधनके लिये मिली है, जिसका जीवन साधनयुक्त है, वही मनुष्य है। साधनरहित जीवन पशु-जीवन है। अतः साधककी प्रत्येक चेष्टा विवेकके प्रकाशमें साधनयुक्त होनी चाहिये। जो जीवन विवेकके प्रकाशसे प्रकाशित रहे, वही साधनयुक्त जीवन है। साधकका प्रत्येक कार्य कुशलतापूर्वक भावयुक्त होना चाहिये। उसका लक्ष्य स्थिरता, असंगता और प्रेम होना चाहिये।

(२१)

प्रश्न—मनुष्यको शान्ति क्यों नहीं मिलती ? और वह कैसे मिले?

उत्तर—मनकी कामना पूरी करनेके लिये कर्म करनेसे शान्ति नहीं मिलती, मन बलवान् होता है। अतः साधकको चाहिये कि मनको पुष्ट न करे, प्रत्युत् उसका दमन करे। साधकका प्रयत्न चित्तशुद्धितक ही है। उसके बाद शान्ति तो अपने-आप आ जाती है।

प्रश्न—समर्पण भी पुरुषार्थ है क्या ?

उत्तर—समर्पण अन्तिम पुरुषार्थ है।

प्रश्न—इच्छाशक्ति कैसे बढ़े ?

उत्तर-सब इच्छाएँ एकमें विलीन हो जानेपर इच्छाशक्ति बलवती होती है। भिन्न-भिन्न प्रकारकी इच्छाओंको मिटाने के लिये समर्पण किया जाता है।

प्रश्न–भगवान् हमसे प्रेम करते हैं, यह कैसे मालूम हो ?

उत्तर–भगवान्पर विश्वास हो, उसमें किसी प्रकारका विकल्प न हो और उनसे हमारा सम्बन्ध हो, तब मालूम हो सकता है।

जैसे माता अपने बच्चेके लिये तरसती है, वैसे ही भगवान्भी अपने भक्त के लिये तरसते हैं। बच्चा काना, लूला, बुरी शकलका या अन्धा-कैसा भी हो, माता उससे प्रेम करती है। बच्चा भी यही समझता है कि मेरी माँ है, मुझे उसका प्रेम मिलेगा। उसे यह संदेह नहीं होता कि मैं काना, लूला, लँगड़ा या कुरूप हूँ, इसलिये माता प्रेम नहीं करेगी। भगवान्में तो मातासे भी अनन्तगुना वात्सल्य है। फिर वे भक्तसे प्रेम करें, इसमें तो कहना ही क्या है ? अतः जो एकमात्र भगवान्को ही अपना मानते हैं, उनको भगवान्का प्रेम मिलता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। यह भक्तोंका अनुभव है।

प्रेमी भक्तको ईश्वर ढूँढता है। भक्त ईश्वरको ढूँढ़नेमें अपनेको समर्थ नहीं मानता। विचारशील साधक ईश्वरको ढूँढ़ता है। यही विचारमार्ग और प्रेममार्गका अन्तर है। प्रेम मन-इन्द्रियोंका व्यापार नहीं है, वह तो विश्वास और सम्बन्धसे प्राप्त होता है।

प्रश्न–अपने दोषोंको कैसे देखें और उनको कैसे मिटावे ?

उत्तर–गुण और दोषोंको देखनेकी शक्ति हरेक मनुष्यमें विद्यमान है। जिस योग्यतासे वह दूसरोंके दोषोंको देखता है, उसी योग्यतासे अपने दोषोंको देखे। अपने दोषोंको ठीक-ठीक देख लेनेपर दुःख होता है और दुःख होनेसे दोष दूर हो जाते हैं।

दूसरोंके दोष और अपने गुण देखनेसे मनुष्यका विकास रुक जाता है और अभिमान पुष्ट होता है तथा कर्त्तव्यसे निराश होनेपर भी विकास रुक जाता है। अतः साधकको चाहिये कि अपने गुणोंको न देखे, पराये दोषोंको न देखे और कर्त्तव्यसे निराश न हो। जो

सचमुच साधक होता है, उसे पराये दोष देखने की फुरसत ही नहीं मिलती और उसे दीखते भी नहीं।

पराधीन व्यक्ति साधन नहीं कर सकता। अतः साधकको चाहिये कि दूसरोंसे किसी प्रकारकी आशा न करे, अपनी रुचि और योग्यताके अनुसार तत्परतासे साधन करता रहे। अपनी योग्यताका अध्ययन करे कि मैं क्या-क्या कर सकता हूँ ? जो कर सकता हो, उसके अनुसार दृढ़तापूर्वक साधन करनेकी चेष्टा करे। फिर जो कठिनाई आवे, उसपर विचार करनेपर बराबर रास्ता दिखलायी देता रहेगा। आजकल लोग अपनी योग्यताको नहीं देखते कि हम क्या कर सकते हैं ? केवल पूछते रहते हैं कि क्या करना चाहिये ? इससे काम नहीं चलता। करने लायक साधन तो असंख्य हैं, परंतु उसके तो वही काम आयेगा जो वह स्वयं कर सकता हो। साधन बहुत बढ़िया हो, परंतु जो नहीं कर सके, उसके कामका नहीं। अतः साधन वही ठीक है जो वह कर सके तथा जिसमें साधकका प्रेम हो।

एक बार किसीके पूछने पर श्रीजवाहरलालजीने कहा था कि 'जब कोई कठिनाई आती है, तब दो कदम चलनेका रास्ता मुझे दिखलायी देता हैं दो कदम चलनेपर फिर दो कदम चलनेका रास्ता मिल जाता है।'

कठिनाई एक प्रकारका तप है। तपके बाद सामर्थ्य आती है। यह नियम है। अतः साधकको कभी निराश नहीं होना चाहिये। प्राप्त योग्यताके अनुसार साधन करते रहना चाहिये।

क्योंकि न जाननेका दोष इतना प्रबल नहीं है जितना कि न करनेका दोष है। अतः साधकको चाहिये कि जाननेके पीछे न पड़े, जो कुछ जाना है, उसके अनुसार करना आरम्भ कर दे। न करनेके दोषको मिटा दे। एवं जिसको न कर सके, उसके करने की इच्छाका त्याग कर दे। जानना तो एक प्रकारका प्रकाश है। जिसके हाथमें सर्चलाइट या लालटेनका प्रकाश है, वह उसे लेकर चलता रहेगा तो जितना चलेगा, उतना ही उससे आगेका मार्ग दीखने लगेगा। इस प्रकार वह बहुत दूर चला जा सकता हैं। परंतु यदि इस आशापर

वहीं खड़ा रहे कि जब आखिरतक प्रकाश हो जायगा, पूरा रास्ता दिखलायी देगा, तब चलना आरम्भ करूँगा तो वह थोड़ी दूर भी नहीं जा सकेगा। दाँयें और बाँयें पैरके समान जानने और करनेकी शक्तिका मेल है। चलते रहने से एकके बाद दूसरी शक्ति अपने आप आती रहेगी। अतः साधकको चाहिये कि जो कुछ भी वह थोड़े-से-थोड़ा जानता है, उसके अनुसार चलना आरम्भ कर दे।

ईश्वरको प्राप्त करनेमें कर्मकी अपेक्षा नहीं है। उसमें तो एकमात्र लालसा चाहिये, व्याकुलता चाहिये। साधक जितना अधिक प्रभुके लिये व्याकुल होगा, उतनी ही शीघ्रतासे उसे भगवान् मिलेंगे। उनको पानेके लिये तो व्याकुलताका ही महत्त्व है।

भोगोंकी प्राप्ति व्याकुलतासे नहीं होती, भोग कर्म करनेसे मिलते हैं, अतः उनकी प्राप्तिके लिये कर्मका महत्त्व है।

यदि कोई कहे कि मुझसे भगवत्-चिन्तन नहीं होता तो उसे सोचना चाहिये कि फिर मैं विषयोंका चिन्तन क्यों करता हूँ ? जिस शक्तिसे वह विषयोंका चिन्तन करता है, उसी शक्तिको ईश्वरचिन्तनमें लगा देना चाहिये ?

क्योंकि चिन्तन करना मनुष्यका स्वभाव है। जब वह ईश्वर चिन्तन नहीं करता, तब विषयों का चिन्तन करता है। कोई भला काम नहीं करता तो बुरा करता है। यदि कुछ न करे तो भी बहुत ठीक है, परंतु बिना करे तो रहे नहीं और करने योग्य काम करे नहीं, उलटा करे, तो यह साधन नहीं हैं। इससे विकास नहीं हो सकता।

प्रायः लोग अपनी शक्तिका उपयोग जिस प्रकार करना चाहिये, वैसे नहीं करते, उसका दुरुपयोग करते हैं। जिसका चिन्तन करना चाहिये, उसके लिये तो कर्म करते हैं और जिसके लिये कर्म करना चाहिये, उसका चिन्तन करते हैं। इसलिये दोनों ओरसे असफल रहते हैं।

विचार करनेपर मालूम होगा कि संसार और सांसारिक भोगोंके लिये चिन्तन आवश्यक नहीं है, उनके लिये कर्मकी आवश्यकता है,

क्योंकि चिन्तनसे संसारको कोई लाभ नहीं होता। चिन्तन करने वालेको भी भोग प्राप्त नहीं होते। इसी प्रकार ईश्वर कर्मसे नहीं मिलते, वे विश्वास, चिन्तन और प्रेमसे मिलते हैं।

कर्म करनेके लिये अपनेसे भिन्न बाहरके संगठनकी जरूरत पड़ती है। कर्मके अनुकूल परिस्थिति और धन भी आवश्यक होता है। शरीर, इन्द्रिय और दूसरे व्यक्तियोंकी सहायता के बिना कर्म नहीं होता, किंतु चिन्तन, विश्वास और प्रेमके लिये किसी भी बाह्य वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती। प्रभुने विश्वास, प्रेम और चिन्तन शक्ति जो कि भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाले हैं, मनुष्यमात्रको दिये हैं। इनका किसीके पास अभाव नहीं है। इनमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌को प्राप्त करने में कोई भी मनुष्य परतन्त्र नहीं है, किन्तु भोगोंकी प्राप्तिमें सर्वथा परतन्त्र है।

मनमें अद्‌भुत शक्ति है। मनसे हरेक मनुष्य रत्नजटित मन्दिर बना सकता है, परंतु वैसे यदि मन्दिर बनाना हो तो अनेक वस्तु और धनकी जरूरत पड़ेगी। अतः हरेक मनुष्य उसे नहीं बना सकता।

शरीरके द्वारा कर्म करनेसे संसारके पदार्थ मिल सकते हैं, भगवान् नहीं। भगवान् तो मनकी शुद्धिसे ही मिलते हैं।

मनकी चाह पूरी करनेमें पराधीनता है, परंतु उसका त्याग करनेमें पराधीनता नहीं है उसी प्रकार संकल्पोंको पूरा करनेमें और भोगोंको प्राप्त करनेमें पराधीनता है, त्यागमें नहीं है।

अतः साधक को चाहियेकि भोगवासनाका त्याग करके शरीरसे संसारकी सेवा करे अर्थात् शरीरके द्वारा कर्म करके संसारके अधिकार की पूर्ति करे और मनको भगवान्‌में लगाये अर्थात् विश्वास, चिन्तन भगवान्‌का करे, प्रेम भगवान्‌में करे। प्राप्त शक्तिका दुरुपयोग न करे।

ईश्वर-प्राप्तिके लिये वनमें जानेकी जरूरत नहीं है। जो घरमें आरामसे रहकर भजन नहीं कर सकता, वह वनमें कष्ट सहकर कैसे कर सकता है ? वनमें रहना तो तपके लिये आवश्यक होता है।

ईश्वर तो उसको मिलता है, जो अपना मन शुद्ध करके उसको ईश्वरके समर्पण कर देता है।

संसारमें रहनेका उन्हीं लोगोंको अधिकार है, जो अपने साथियोंको सुख दे सकते हों, अपने अधिकारका त्याग करके उनके अधिकारकी रक्षा कर सकते हों, अपने मनकी इच्छाका त्याग करके उनके मनकी धर्मानुकूल इच्छाको पूरी कर सकते हों। जो अपने साथीको सुखी नहीं रख सकता, उसको चाहिये कि उनसे क्षमा माँगकर अलग हो जाय और अपने लिये उनसे कुछ नहीं चाहे, दूसरों से अपने मनकी बात पूरी कराने का हक साधक को नहीं है।

मानवको शरीर तथा अन्य वस्तुएँ संसारकी सेवा करनेके लिये अर्थात् उसके अधिकारकी पूर्ति करके उससे उऋण होनेके लिये मिली हैं और मन भगवान्का चिन्तन करने के लिये मिला है। यदि मनुष्य शरीरसे संसारकी सेवा न करके उलटा अपने जीवनसे लोगों को कष्ट देता रहे तो वह पापी है। दुष्ट जानवरोंकी भाँति ही अनादरका पात्र है। संसार उसका निरादर करता है जो उसके काम नहीं आता और उससे कुछ चाहता है।

लोग साँपको भयानक समझकर उसे मार डालते हैं, परंतु वास्तवमें वह भयानक नहीं है। अपने श्वासद्वारा वायुमण्डलके दोषको खींचकर हवाको शुद्ध बनाता है। अतः बहुत आवश्यक है। उसमें जो विष है, वह तो उसे अपनी जीवन-रक्षाके लिये अर्थात् खुराक पचानेके लिये मिला है। दूसरों को मारने के लिये नहीं। अतः हमलोगोंको चाहिये कि उसको मारें नहीं, स्वयं सावधान रहें। अँधेरे में न निकलें, निकलना ही हो तो साथमें प्रकाश रखें।

यदि दूसरों की इच्छासे साधकको भोजन प्राप्त न हो तो शान्तिपूर्वक भूखा रह जाय। भूख को बिना किसी क्षोभके शान्तिपूर्वक सहन कर लेना तप है। साधकको या तो सेवा करनी चाहिये या तप करना चाहिये अथवा अपने मनकी चाह मिटाकर उसका नाश करना चाहिये, क्योंकि शान्ति तप और सेवासे मिलती है।

यदि कोई आशा करे कि पहले हमारे साथी सुधर जायँ, तब हम अपना सुधार कर सकेंगे, तो यह कभी नहीं होगा। संसारका सुधार अपने सुधारसे ही होगा।

अपने दुःख और कठिनाइयोंका कारण मनुष्य खुद है। दूसरा कोई नहीं है। जो अपने स्थानपर ठीक नहीं रहता, वही संसारके सहयोगसे वंचित रहता है। संसार अपने कर्त्तव्यसे च्युत नहीं होता, व्यक्ति स्वयं ही अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है। संयमका अभाव और स्वार्थ-यही मनुष्यको गिरानेवाले हैं। इसलिये साधकको चाहिये कि दूसरे लोग अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं या नहीं, संसार अपनी जगहपर ठीक है या गलत, इस विचारको छोड़कर वह स्वयं अपने कर्त्तव्यका पालन करे-अपनी जगहपर ठीक रहे।

तप और सेवा संसारके लिये करे एवं विश्वास, चिन्तन और प्रेम ईश्वरके लिये करे ! भगवान्‌की कृपापर निर्भर रहे। भगवान्‌की कृपासे ही मनुष्य भगवान्‌को पा सकता है।

(२२)

चित्तको ठहराने की अभिलाषा बड़ी अच्छी अभिलाषा है, इसे बलवान् बनाओ। प्रयत्न जारी रखो। साधनमें संदेह मत करो।

जानकारी के अनुसार जीवन बनाओ। मान्यताके अनुसार क्रिया करो।

जानकारीका सम्बन्ध शरीर और संसारसे है। मान्यता और विश्वासका सम्बन्ध भगवान्‌से है।

प्रश्न—दुःख की निवृत्ति कैसे हो ?

उत्तर—वासनाओंकी निवृत्ति होनेसे दुःखों की निवृत्ति होती है। जब साधक विवेकका आदर करके विचारद्वारा यह समझ लेता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, तब उसका फल वासना और संकल्पोंका अभाव हो जाता है। इसके होते ही दुःख मिट जाता है। जबतक इन्द्रियोंकी माँग पूरी करनेकी इच्छा रहेगी, तबतक मनका काम रहेगा, इच्छाका

अन्त होते ही मनका काम समाप्त हो जायगा। इन्द्रियोंके और मनके क्रियारहित हो जानेपर वासनाका अन्त अपने आप हो जाता है।

साधनमें जितनी स्वाभाविकता आयेगी, उतनी ही सबलता आयेगी। अतः साधकको अपना साधन स्वाभाविक बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये, ताकि वह बोझ मालूम न दे।

तीव्र जिज्ञासा होनेसे ज्ञान स्वतः होता है। आत्मा और परमात्माका ज्ञान बुद्धिसे नहीं होता।

(२३)

प्रश्न—मन रुकता नहीं। इधर-उधर घूमता रहता है। इसका क्या कारण है ?

उत्तर—मनके न रुकनेका दुःख नहीं है, मनको रोकना परम आवश्यक है, यह अनुभव नहीं है। उसकी महिमा सुनकर रोकना चाहते हैं, परंतु खास जरूरत नहीं मालूम होती, इस कारण नहीं रुकता। देखा जाता है कि हरेक आवश्यक काम पूरा न होने पर मनुष्यको बेचैनी होती है। धनके अभावमें दुःख होता है, प्रियके वियोगमें दुःख होता है, यहाँतक कि खाना-पहनना भी अच्छा नहीं लगता। दुःखके भुलानेके लिये गलत मार्ग भी स्वीकार करते हैं। जैसे मादक द्रव्य सेवन करना आदि, परंतु दुःख नहीं मिटता। यह परिस्थिति तो साधारण दुःखकी है। यदि मन न रुकनेका किसीको इतना दुःख हो जाय कि जबतक मन न रुके, दूसरी कोई बात अच्छी न लगे, व्याकुलता उत्पन्न हो जाय, किसी भी घटनासे चैन न पड़े, तो मन रुक सकता है, क्योंकि सचमुच असह्य दुःख होनेपर सुखभोग की रुचि जाती रहती है, उस समय सुखका चिन्तन और सुखकी कामना समाप्त हो जाती है, किसी प्रकारकी प्रवृत्ति शेष नहीं रहती। रोनेका भी साहस नहीं होता।

प्राणीके मनको सुखकी कामना स्थिर नहीं होने देती। एक साथ दो काम करते रहनेका अभ्यास भी मनको स्थिर नहीं होने देता। सुखकी कामना मनको स्थिर करनेकी चेष्टा करनेपर भी मन

स्थिर नहीं होता। देहाभिमान भी मनको स्थिर नहीं होने देता। मन स्थिर होने से जो आनन्द मिलता है, उसका बोध या विश्वास न होने के कारण भी मन स्थिर करनेकी पूर्ण रुचि नहीं होती।

इसलिये साधकको चाहिये कि मन स्थिर होनेसे परम आनन्द मिलता है, यह विश्वास करके उसके लिये रुचि उत्पन्न करे। जब तक मन स्थिर न हो, तबतक चैनसे न रहे। प्रवृत्तिसे मिलनेवाले सुखका प्रलोभन छोड़ दे। मनके रुकनेसे जो क्षणिक शान्ति मिलती है, उसमें संतोष न करे। अपनेको शरीरसे भिन्न समझे। एक समय में दो काम करनेकी आदत छोड़ दे। काम करते समय आगे-पीछे की बातका चिन्तन न करे। जिस समय जो काम करे, पूरा मन लगाकर करे। ऐसा करनेसे जब मनको इधरसे हटाकर भगवान्में लगाया जायगा, तब वह स्थिर हो सकता है।

जबतब मनुष्यकी न तो प्रवृत्ति के सुखमें अरुचि है, न निवृत्ति में ही पूरी रुचि है, तबतक मन स्थिर नहीं होता, क्योंकि सब ओरसे हट जानेका नाम ही मनकी स्थिरता है। संसारसे हटा लेने पर भगवान्में तो अपने-आप लग जायगा। चंचलताको रोकने के लिये ही प्रयत्न है। लगानेके लिये प्रयत्न आवश्यक नहीं है।

प्रश्न—मुझे क्या करना चाहिये ?

उत्तर—यदि बिना किये रह सको तो कुछ भी नहीं करना चाहिये। बिना किये न रह सको तो सब कुछ करना चाहिये। भाव यह है कि जिन संकल्पोंको विचारसे नहीं मिटा सको, उनको धर्मानुकूल भगवान्के नाते पूरा करके मिटा देना चाहिये और नये संकल्प उत्पन्न न होने देना चाहिये।

विचार करनेपर मालूम होता है कि कर्मका फल सुख और दुःख है। ये दोनोंही होते और मिटते रहते हैं। करनेसे जो कुछ मिलता है, वह कालान्तर में नहीं रहता। करनेके पहले हम जिस परिस्थितिमें होते हैं, अन्तमें भी उसी स्थिति में आ जाते हैं। करनेके पूर्वकी और अन्तकी स्थितिका यदि मनुष्य ठीक-ठीक अध्ययन कर ले तो करनेकी इच्छा मिट जाती है।

जिसको किये बिना न रह सको, उस कामको करो, परंतु करनेकी इच्छा मिटाकर न करनेकी स्थिति प्राप्त करनेके लिये करो।

जो मनुष्य भोग-कामनासे कर्म करता है, वह उसका फल भोगता है। दुःखी होता है, फिर करता है, फिर फल भोगता है। भोगके बाद शोककी प्राप्ति निश्चित है। अनन्त कालसे जीव इस करने और भोगनेके चक्रमें फँसा हुआ है। अतः जो कुछ करो, भोग-कामनासे रहित होकर करो। प्रत्येक कर्मके दो फल होते हैं-एक दृश्य और दूसरा अदृश्य। दृश्य फल तो अपने-आप मिट जाता है, अदृश्य फल फलकी कामनासे रहित होनेपर मिट जाता है। इस प्रकार कामनारहित भोग योगमें बदल जाता है, क्योंकि कामना न रहने पर काम नहीं रह सकता। वास्तवमें माने हुए अहंभावका अर्थात् कर्तापन और कामनाका न रहना ही न करना है, क्योंकि शरीरके रहते हुए क्रियाका अभाव नहीं होता। अतः जो कुछ करो चाहरहित, चिन्तनरहित और फलकी आशासे रहित होकर करो। संकल्परहित और वासनारहित जीवनमें माना हुआ अहं मिट जाता है।

जिस साधनद्वारा प्रभुसे सम्बन्ध हो, वही करना चाहिये। अतः करना हो तो सेवा करो अथवा त्याग करो। भोगकी रुचिसे करनेवाला योगसे वंचित रहता है। आसक्ति और स्वार्थपूर्वक कर्म करनेवाला सुख-दुःखके जालसे नहीं बच सकता।

किसी भी वस्तुको अपना न मानना-यही त्याग है। त्यागसे वीतरागता उत्पन्न होती है। रागकी निवृत्ति होनेपर सब दोष मिट जाते हैं।

कठिनाई या अभावको हर्षपूर्वक सहन करना तप है। तपसे सामर्थ्य मिलती है। उसको सेवामें लगा देना चाहिये।

अहंता और ममताका नाश विचारसे होता है। सत्यके बोधसे समस्त दुःख मिट जाते हैं। सत्यके प्रेमसे अनन्त रस (परम आनन्द) प्राप्त होता है। अपनेको शरीर न मानसे निर्वासना आती है और सदा

रहनेवाली चिर शान्ति मिलती है। करने योग्य काम वह है जिसे किये बिना नहीं रह सकते, जिसको करनेके साधन प्राप्त हैं, जिसका सम्बन्ध केवल वर्तमान जीवनसे है, जिसमें दूसरेका हित है। किसीका भी अहित नहीं है। मनुष्यकी करनेमें प्रवृत्ति दो प्रकारसे होती है-एक संसारकी सेवाके लिये, दूसरी शारीरिक, सुखभोग के लिये। सुख-भोगके लिये करना ही स्वार्थ है। शरीरको संसारकी सेवामें लगाकर सेवाके लिये करना ही कामनारहित करना है।

कामनाकी निवृत्तिसे होनेवाली स्थिति बड़ी उच्चकोटिकी है। उस स्थितिमें निर्विकल्पता आ जाती है, बुद्धि सम हो जाती है, जितेन्द्रियता प्राप्त हो जाती है। उसके प्राप्त होनेपर मनुष्य स्वयं 'कल्पतरु' हो जाता है। जिसको लोग कल्पतरु कहते हैं, उससे तो हित और अहित दोनों ही होते हैं। पर यह कल्पतरु तो ऐसा है जिससे कभी किसीका भी अहित नहीं होता। इससे मनुष्यको योग, बोध और प्रेम प्राप्त होता है।

सेवा करनेवालेकी आवश्यकता संसार भरको होती है। जिसकी आवश्यकता दूसरोंको हो, वह महान् है और जिसको दूसरेकी आवश्यकता हो, उसके लिये वह महान् है जिसकी आवश्यकता वह अनुभव करता है। जो किसी वस्तुकी आवश्यकताका अनुभव करता है, उसके लिये वह वस्तु ही महान् है।

अतः साधकको अपना जीवन ऐसा सुन्दर बनाना चाहिये, जिससे संसार उसकी आवश्यकता समझे और उसकी ओर आकर्षित हो, किंतु उसको संसारकी जरा भी आवश्यकता न हो। जब साधक संसारको नहीं बुलाता, तब भगवान् उसके पास अपने-आप आ जाते हैं।

अनावश्यक संकल्प और इच्छा करके मनुष्य अपना नाश करता है, अतः साधकको चाहिये कि आवश्यकतापूर्ति, इच्छाओंकी निवृत्ति, चित्तकी शुद्धि और लक्ष्यकी प्राप्ति करे।

प्राप्त योग्यतासे संसारके अधिकारकी रक्षा करना और धर्मानुकूल सबको सुख पहुँचाना तथा संसारसे कुछ न लेना-यही सेवा है। सेवा

करनेसे हृदयमें प्रेम प्रकट होता है। जीवन वही है जिसका शरीर विश्वकी आवश्यकता बन जाय, अहंभाव सदाके लिये मिट जाय और हृदय प्रेमसे भर जाय।

(२४)

प्रश्न—कभी तो ऐसा मालूम होता है कि हृदयमें प्रेम है और कभी ऐसा मालूम होता है कि हृदय सूना-सा है, प्रेम नहीं है, यह क्या है ?

उत्तर—स्वयं साक्षी बनकर मनके गुण-दोषोंको देखना, विश्वास और प्रेमका बार-बार निरीक्षण करना, यह प्रेममार्ग की साधना नहीं है। साक्षी-भावसे यह देखना कि गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं, यह तो विचारमार्गकी साधना है। विश्वास और प्रेमकी खोज करना तो वैसी ही गलती है जैसे कोई बीज बोकर उसे खोद-खोदकर देखे कि यह उपजा या नहीं। अतः साधकको चाहिये कि प्रभुको अपना समझे, उनपर दृढ़ विश्वास करे, विश्वासमें विकल्प न आने दे। शरीर, मन, इन्द्रियों और बुद्धिको तथा अपने-आपको पूर्णतया भगवान्‌के समर्पण करके सब प्रकारसे उनपर निर्भर हो जाय। उनपर पूरा भरोसा करे।

भगवान्‌पर पूरा भरोसा होनेपर ही समर्पण होता है। समर्पण करनेके बाद जो यह देखना है कि कुछ नयापन आया या नहीं, यही भरोसे की कमी है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि मनुष्य संसारपर जितना भरोसा करता है, उतना भगवान्‌पर नहीं करता। जैसे कहीं जानेवाला मुसाफिर पहलेसे सीट रिजर्व करा लेता है, तो उसको यह भरोसा रहता है कि ठीक समय पर सीट जरूर मिल जायगी। अतः वह निश्चिन्त हो जाता है, यद्यपि उसमें अनेकों विघ्न भी आ सकते हैं। विघ्न असम्भव नहीं है, तो भी उसपर भरोसा कर लेता है। संसारपर भरोसा करके बहुत बार धोखा खाया है एवं भगवान्‌पर भरोसा करनेवाले को कभी धोखा नहीं हुआ। यह मानते हुए भी मनुष्य भगवान् पर निर्भर नहीं होता, इससे बढ़कर दुःख और आश्चर्य क्या होगा ?

मनुष्य स्वयं अलग रहकर अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको भगवान्में लगाना चाहता है, यहाँसे ही गलती होती है। प्रेमका सम्बन्ध साधकसे है न कि उसके मन, इन्द्रिय और बुद्धिसे। प्रेममार्ग में चलनेवाला पहले तो अपनेको अपने प्रियतमके प्रेमकी लालसा और बादमें प्रेम समझता है, प्रेमी प्रेममें विलीन हो जाता है। प्रेम और प्रेमीमें भिन्नता नहीं रहती। अतः प्रेममार्गके साधकके जीवनमें भगवान्का प्रेम, भरोसा और कृपा सदा सजीव बने रहने चाहिये, भावकी शिथिलता नहीं होनी चाहिये।

मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ तो अहंकी विभूतियाँ हैं, उनमें प्रेम नहीं होता। प्रेम अहंमें होना चाहिये। अहंमें प्रेमकी प्रबलता होनेसे मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ-सब उसीमें विलीन हो जाते हैं। वे अहंके भावका विरोध नहीं करते।

साधकको ध्यानपूर्वक इस बातका मनन करना चाहिये कि मैं सचमुच क्या चाहता हूँ, मेरी वास्तविक आवश्यकता क्या है ? जिनके न होनेपर साधक रह सकता है, जिनका वियोग अनिवार्य है, वह उसकी आवश्यकता नहीं हो सकती। सच्ची आवश्यकता उसीकी है, जिसके बिना वह नहीं रह सकता, जो कभी उससे अलग नहीं होता। सोचनेपर यदि यह मालूम दे कि ऐसा तो एकमात्र मैं स्वयं ही हूँ तो विचार करना चाहिये, क्या मैंने कभी अपनेमें रमण किया या मैं संसारमें ही रमण करता रहता हूँ, तब मालूम होगा कि संसारमें रमण करता रहा हूँ। फिर विचार करनेपर मालूम होगा कि जो अनन्त नित्य सौन्दर्य और अनन्त नित्य रसका भण्डार है, उसीकी वास्तविक आवश्यकता है, वह है जीवनका नित्य साथी, एकमात्र परमेश्वर। वह कभी जीवका साथ नहीं छोड़ता। जीव स्वयं ही संसारको अपनाकर उसे भूल गया है, उससे विमुख हो गया है।

यह मालूम होनेपर साधकको मान लेना चाहिये कि जिसकी मुझे आवश्यकता है, उससे मेरी देश-कालकी दूरी नहीं है, अतः उसकी प्राप्तिके लिये यह धारणा करना कि अमुक स्थानमें जानेपर या अमुक समय में मेरी आवश्यकता की पूर्ति होगी सर्वथा प्रमाद है।

उसकी प्राप्ति वर्तमानमें अभी हो सकती है। मेरे प्रमादने ही, मेरी भूल ने ही मुझे उनसे विमुख कर रखा है।

जिनको अपना मानकर हमने अपना सम्बन्ध जोड़ रखा है-वे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं माता-पिता, भाई-बन्धु और पति-पत्नी आदि तथा समस्त पदार्थ सभी अनित्य हैं। अतः इनका वियोग अनिवार्य है। इनको अपना मानकर, इनपर विश्वास करके मैं अपने प्रभुसे विमुख हो गया हूँ।

यह निश्चय कर लेनेके बाद साधकको चाहिये कि जिसकी उसको वास्तविक आवश्यकता है, उस परम प्रियतम प्रभुको ही अपना माने, उसी पर विश्वास करे और उसीसे प्रेम करे। जब साधक उनको अपना मानकर उनके सम्मुख हो जाय, एकमात्र प्रभुसे ही साधक का अनन्य सम्बन्ध रहे, उन्हींकी निरन्तर स्मृति रहे, तब समझना चाहिये कि प्रेमका प्रादुर्भाव हो गया।

जिनसे वियोग होना अनिवार्य है, उनकी आसक्तिने ही मनुष्यके प्रेमको ढक रखा है। मनुष्य अनित्य वस्तुओंसे सुखकी आशा करके उनमें आसक्त हो गया है। इससे ही वह ईश्वरके विमुख हो गया है।

जो उसे ठुकराता है, उसीको प्राणी पकड़ता है। जिस शरीरको, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको मनुष्य सबसे अधिक अपना मानता है, वे सब इसको ठुकराते हैं अर्थात् इसका त्यागकर देते हैं, तो भी यह उनका सम्बन्ध नहीं छोड़ता। भगवान्‌को भूल जाने के कारण ही इसकी यह दुर्दशा हुई है। उसीका फल यह है कि यह शरीरमें और भोगोंमें अहंता-ममता करके उनका स्मरण चिन्तन करता रहता है। भूत, भविष्यत् और वर्तमानकी घटनाओं के चिन्तनमें इतना फँस गया है कि उसको नहीं छोड़ पाता।

प्रश्न—भावदृष्टि और तात्त्विक दृष्टिमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—विश्वासपूर्वक मान्यता अर्थात् स्वीकृतिको भावदृष्टि कहते हैं और वस्तुको विवेकपूर्वक समझ लेनेका अर्थात् जानकारीका

नाम तात्त्विक दृष्टि है। दोनों के फलमें कोई अन्तर नहीं है, भेद इतना ही है कि स्वीकृतिका फल नित्य अनन्त रस है और जानकारीका फल अखण्ड एकरस है। इन दोनोंमें परस्पर कोई विरोध नहीं है।

प्रश्न—मन और तनमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—तनसे अर्थात् शरीरसे जो काम लेता है उसको मन कहते हैं। जैसे मोटर और ड्राइवरका हाथ। मोटरके स्थानमें शरीर है और हाथके स्थानमें मन है ! वैसे ही जो मनसे काम ले सके, उसको बुद्धि समझना चाहिये।

प्रश्न—भजन किस समय करना चाहिये ?

उत्तर—सब कामोंके अन्तमें सोते समय और सोकर उठते समय एवं जो कोई काम करो उसके अन्तमें भजन जरूर करना चाहिये। जो मनुष्य हरेक कामके अन्तमें कम-से-कम एक बार भी निश्चितरूपसे भगवान्‌को याद कर लेता है, उसको मरते समय भगवान् जरूर याद आ जायेंगे।

प्रश्न—बच्चे लोग मनमानी करते हैं, कहना नहीं मानते, उसके लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर—बच्चोंसे कुछ कहो मत, उनको करके दिखाओ, तुम्हारे जीवनका उनपर असर पड़ेगा। जो कुछ करना है, वह चुपचाप करते रहो। कुछ दिनके बाद उनका स्वभाव बदल जायगा। अपने बचपनको भूल गये हो, उसे याद कर लो।

प्रश्न—तीर्थों में क्या करना चाहिये ?

उत्तर—तीर्थके महत्त्वको समझकर उसपर श्रद्धा करनी चाहिये, दान करना चाहिये, स्नान और भजन तथा देवविग्रहोंका दर्शन करना चाहिये। साधु-संतोंसे मिलना और उनका सत्संग करना चाहिये। निर्बल, निर्धन और श्रद्धाहीन मनुष्यको तीर्थयात्रा नहीं करनी चाहिये। तीर्थयात्रा एक प्रकारका तप है, इसमें शारीरिक कष्ट सहन करना पड़ता है, निर्बल मनुष्य परिश्रम नहीं कर सकता। तीर्थयात्रामें धनका खर्च अवश्य करना पड़ता है, निर्धन मनुष्य धन

कहाँसे लावे, यदि ऋण करे या मँगाकर ले तो उसे तीर्थका लाभ नहीं होता। जिसकी तीर्थोंपर श्रद्धा नहीं है, वह भी तीर्थयात्रासे लाभ नहीं उठा सकता।

प्रश्न—तीर्थोंमें जलके भीतर ताँबा, चाँदी या सोना चढ़ानेका माहात्म्य सुनते हैं तो क्या चढ़ाकर ही स्नान करना चाहिये ?

उत्तर—ऐसी बात अधिकांश वे ही लोग कहते हैं जो आपका चढ़ाया हुआ द्रव्य निकाल लेना चाहते हैं। अतः भीतर फैंकने की अपेक्षा बाहरमें ही जिसको ठीक समझो, दे देना अच्छा है। जिसमें निकालने वालोंको कष्ट न हो। जो श्रद्धापूर्वक तीर्थमें स्नान किया जाता है, उसका माहात्म्य साधारण नित्य स्नानकी अपेक्षा विशेष है। अतः स्नानका मन्त्र बोलकर पुष्पादिसे तीर्थकी पूजा करके स्नान करना अच्छा है।

प्रश्न—पंडे लोग तीर्थकी पूजा कराते हैं, मन्त्रका उच्चारण ठीक नहीं करते, दक्षिणा लेते हैं इसमें क्या करना चाहिये ?

उत्तर—वे लोग आपके वस्त्र और घड़ी आदि वस्तुओंकी रखवाली करते हैं, आपके रहन-सहनकी सुविधा भी करते हैं। अतः उनको जो कुछ दिया जाय, वह उनके परिमश्रका बदला समझना चाहिये, देनेवालेको वह भाररूप मालूम नहीं होना चाहिये। यदि प्रत्येक आदमीके पीछे कोई टैक्स लगाया जाता तो देते या नहीं ? वैसे ही दे देना चाहिये। यहाँ तो पंडे लोग बहुत थोड़ेमें ही खुश हो जाते हैं, कोई लम्बा-चौड़ा खर्च नहीं है।

प्रश्न—चौके वगैरहमें शुद्धता और छूआछूत मानना चाहिये या नहीं ?

उत्तर—सफाईका सम्बन्ध शरीरसे है और शुद्धताका सम्बन्ध मनसे है। अतः मनमें, मैं बहुत शुद्धतासे रहता हूँ, दूसरे नहीं रहते, इस अभिमानको रखकर दूसरोंको नीचा समझना या उनसे घृणा करना उचित नहीं है। ऊपरकी सफाई के लिये शुद्धता और सफाई तथा छूआछूत का व्यवहार रखना बुरा नहीं है, अपितु आवश्यक है,

परंतु भेद क्रियामें होना चाहिये। प्रेममें भेद नहीं होना चाहिये। मनमें राग-द्वेषादि विकारोंका न रहना ही सच्चा आचार है। केवल ऊपरकी सफाई ही आचार नहीं है। बाहरकी पवित्रता भी भीतरकी शुद्धता की ओर बढ़ानेके लिये ही है।

प्रश्न—आचारी बड़ा है कि विचारवान् ?

उत्तर—इनमें बड़ा छोटा कोई नहीं है, अपने-अपने स्थानपर दोनों ही बड़े हैं। आचार और विचारमें कोई विरोध नहीं, आपसमें एक-दूसरेके सहायक हैं। आचार शुद्धिका साधन है। उससे जीवनमें पवित्रता आती है। चित्तके दोषोंका नाश होता है। विचारका काम निरभिमानता अर्थात् भिन्नता को मिटाकर एकता कर देना है।

आचार हमें घृणा नहीं सिखाता, क्योंकि दोषोंके मिट जानेका नाम ही शुद्धि है। दोष मनुष्योंमें स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि जन्म लेते ही कोई झूठ नहीं बोलता है, माता-पिता आदिसे सीखकर झूठ बोलता है। बच्चेको जो कोई प्यारसे रखता है, वह उसीमें स्नेह करने लगता है, उसमें भेद.भावकी, अपने-परायेकी कल्पना पहले नहीं होती। दूसरोंके व्यवहारसे सीखता है। पैदा होते ही किसीके मनमें बुरे संकल्प नहीं उठते। इससे यह सिद्ध हुआ कि दोषोंका त्याग करना कठिन नहीं है।

अपनी जानकारीके विरुद्ध काम करना ही अशुद्धि है। जो काम मनुष्य अपने लिये नहीं चाहता, वह दूसरोंके साथ न करे। जो अपने लिये अच्छा समझे, वह दूसरों के लिये करे-यही विचारका सदुपयोग है, इससे व्यवहारमें शुद्धि आती है। व्यवहारकी शुद्धिसे विवेक प्रकाशित होता है। इस प्रकार एक-दूसरेके सहायक हैं। वर्तमान विवेक और शक्तिका ठीक-ठीक उपयोग करनेसे भूत; भविष्य सब ठीक हो जाते हैं।

वास्तविकताको जान लेनेका नाम ही विचार है। शरीरको साफ कर लिया, किंतु मन-बुद्धि गंदे हैं तो वह अधूरा स्नान है।

विचारसे यदि संदेहकी निवृत्ति नहीं हुई तो वह विचार नहीं है। विवेकशक्ति विवाद करनेके लिये नहीं मिली है। इसी प्रकार अपनेको

पवित्र और दूसरोंको अपवित्र मानकर अभिमान करना आचार नहीं है, शरीरमें और मनमें शुद्धि बढ़नेका नाम आचार है।

इसपर एकनाथजी महाराजकी एक घटना याद आ गयी। एक समयकी बात है। एकनाथजीके पिताका श्राद्ध-दिन था। ब्राह्मण भोजनके लिये भाँति-भाँति के मिष्ठान तैयार हो रहे थे। उसी समय उनके घरके पाससे बहुत-से अछूत घरानेके लोग जा रहे थे। स्वादिष्ट पक्वान्नकी सुगन्ध पाकर उनमेंसे एकने कहा-'कितना अच्छा स्वादिष्ट भोजन बन रहा है, बड़ी सुहावनी सुगन्ध आ रही है।' दूसरेने कहा-'भाई ! यह तो ब्राह्मणोंके लिए बन रहा है, तुम मन क्यों चला रहे हो ? हमारे भाग्य में ऐसा अन्न कहाँ ? उनकी बातचीत एकनाथजी महाराज के कानोंमें पड़ गयी। उन्होंने सबको बुलाकर सब पक्वान्न प्रेमपूर्वक उन लोगोंको खिला दिया। इस बातका जब दूसरे ब्राहमणों को पता लगा, तब उन्होंने आपसमें एकनाथजीकी बहुत निन्दा की और यह निश्चय किया कि इनके घरपर कोई ब्राह्मण भोजन नहीं करे। एकनाथजीने ब्राह्मणोंको बहुत समझाया कि वह अन्न उच्छिष्ट हो गया था, अछूतों ने उसकी गंध ले ली थी, इसलिए वह ब्राह्मणों के काम का नहीं था। अब आप लोगों के लिये दुबारा पवित्र भोजन तैयार कराया गया है, परंतु ब्राह्मणोंने अपना हठ नहीं छोड़ा। उनके द्वारपर पहरा देने लगे कि कोई ब्राह्मण भूला-भटका भी वहाँ भोजन न कर ले। भीतर एकनाथजीके पितर साक्षात् प्रकट होकर भोजन कर रहे थे। भोजन करके जब उठे, तब उन्होंने उस समयकी प्रथाके अनुसार 'हर हर महादेव' की आवाज लगायी।

पहरेपर खड़े हुए ब्राह्मणोंने यह घटना देखकर बहुत आश्चर्य किया। यह उनके सच्चे आचारका प्रभाव था।

मानव-जीवनमें आचारकी बड़ी आवश्यकता है, आचारसे पतित तो मनुष्य नहीं, पशु है। आचारसे अतीत भगवान् हैं। मनुष्यता तो वही है, जो आचार और विचारयुक्त है।

अंग्रेज लोग आचारको न मानते हों ऐसी बात नहीं है, वे हमलोगोंसे अधिक मानते हैं, परंतु अपने ढंगसे मानते हैं। वैज्ञानिक

दृष्टिसे मानते हैं, वे ऊपरकी सफाई कम नहीं रखते। किसी भी खानेकी चीजको छूते नहीं, भोजनकी जगह हमारे पूजा-घरोंसे भी अधिक स्वच्छ रखते हैं। किसी प्रकारकी गंदगी वहाँ नहीं रहती है। मक्खी और मच्छर तकको नहीं बैठने देते। दूध दुहने, बोतलोंमें भरने, बंद करनेमें, ईमानदारी और सफाईका पूरा ध्यान रखते हैं। वस्तुकी और बनानेकी सफाईपर उनका पूरा ध्यान रहता है।

हमलोग आचारको मानते हैं, परंतु उसको पूरा-पूरा काममें नहीं लाते। हम मौजसे भोजन करते रहें, हमारे पड़ोसियोंको खानेके लिये न मिले और भी आस-पासमें भूखे लोग रहें तो वह भोजन पवित्र नहीं कहा जा सकता। भोजनकी शुद्धिके लिये सत्यतापूर्वक उपार्जन किया हुआ अन्न, पवित्र वस्तु, पवित्रतासे बना हुआ हो, फिर पवित्र भावसे खाया जाय, वही भोजन पवित्र होता है।

आचारका अभिप्राय बाहर और भीतरकी पवित्रता बढ़ाना है। आजकल आचारके नामपर जो यह अभिमान करते हैं कि मैं बड़ा हूँ और दूसरे छोटे हैं, यह आचार नहीं है।

भगवान्‌के रहनेका असली मन्दिर मन है, उसे पवित्र रखना चाहिये। शरीर जीवका मन्दिर है, उसे भी पवित्र रखना चाहिये।

श्रमयुक्त शरीरको आलसी बना देना, मनको राग-द्वेषसे भर देना, बुद्धिको विवेकहीन बना देना यही अशुद्धि है, इसको दूर करना ही वास्तविक आचार है।

भोगवासनाका त्याग करनेसे जीवन पवित्र होता है। मनमें भोग-वासना उदय होते ही बुद्धि मनकी ओर, मन इन्द्रियोंकी ओर तथा इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर खिंच जाते हैं, इससे स्वाधीनता और चिन्मयताका नाश होकर जड़ता, पराधीनता और शक्तिहीनता आ जाती है।

वासनारहित होते ही इन्द्रियाँ विषयोंसे हटकर, मनमें, मन बुद्धिमें और बुद्धि अहंमें विलीन हो जाती है, अहं ईश्वरका प्रेम बनकर उनसे मिल जाता है। जब जीवनमें चिन्मयता, दिव्यता, स्वाधीनता, मुदिता, निर्भयता आदि गुण अपने आप आ जाते हैं ।

(२६)

कल किसी भाईने कहा था कि आपके सत्संगमें वीरताकी बातें नहीं होतीं, इसलिये आज उसी विषयमें बातचीत हो जाय, तो अच्छा है। अच्छा भाई, बताओ तुम्हारी समझमें वीर कौन है ? तुम किसको वीर मानते हो ?

श्रोता—जैसे भगतसिंह वीर था।

स्वामीजी—भगतसिंह वीर अवश्य था, परंतु वीरताके साथ धीरता और गम्भीरता भी चाहिये। केवल वीरताका ही आदर्श स्थापन करनेसे काम नहीं चलता। मेरी समझ में वीर वह है जिसमें पराधीनता, जड़ता और शक्तिहीनता न हो अर्थात् जो वीर, धीर और गम्भीर भी हो, वही असली वीर है। विवेकहीन वीरतासे लाभके बदले भारी नुकसान हो सकता है। गांधीजी वीर थे। उनमें वीरताके साथ-साथ धीरता और गम्भीरता भी थी। वास्तवमें सबसे बड़ा वीर वह है जिसने अपनेपर विजय प्राप्त कर ली हो। जो मन और इन्द्रियों पर शासन कर सकता हो। जिसपर इनका शासन न हो अर्थात् जो मन और इन्द्रियोंके अधीन न हो।

प्रश्न—धीर और गम्भीरका क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिसके मन में विधानका अर्थात् कर्त्तव्यका पूरा-पूरा आदर हो, अपने सिद्धान्तसे कभी विचलित न हो, अपने लक्ष्यपर दृढ़ रहे, वह धीर है अर्थात् विवेकशील और धैर्ययुक्त मनुष्य ही धीर कहा जाता है।

जो किसीकी ओर आकर्षित न हो, किंतु अपने प्रतिपक्षीको भी अपनी ओर आकर्षित कर सके। अपना भाव प्रकट न करे, हरेक काम गहराईसे सोचकर करे, वह गम्भीर कहा जाता है।

भाव यह कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिका आक्रमण जिसको पराजित न कर सके एवं सुख-दुःखका आक्रमण जिसपर अपना प्रभाव नहीं कर सके, वही वीर, धीर और गम्भीर है।

धीरता और गम्भीरतासे रहित वीरता उस वीरका विनाश कर

देती है। उस वीरको खा जाती है। उसकी वीरताका विकास नहीं हो पाता।

धीर मनुष्य यदि अपने विरोधीपर विजय प्राप्त कर लेता है, तो भी उसपर क्रोध नहीं करता। धैर्यपूर्वक कर्त्तव्यका पालन करता है। जिसपर हर्ष और विषाद दोनों अपना प्रभाव नहीं दिखला सकते, वही धीर है।

पशु-बलका समर्थक कभी वीर नहीं हो सकता। जो वीर निर्बलोंके दुःखका कारण होता है, वह वीर नहीं है। वीर तो वही है जो निर्बलों की रक्षा करे। अपनेसे निर्बलोंको दुःख देने के लिये तो खूँखार शेर भी वीर होता है, परंतु उसमें धीरता और गम्भीरता नहीं होती।

इन्द्रिय-जय, सेवा तथा सत्यकी खोज-ये तीनों गुण गांधीजी में थे। इसलिये वे वीर थे। जिसको कोई सम्मान, अधिकार आदिके लोभसे या किसी प्रकारके भयसे बदल न सके, जिसपर किसी प्रकारका मोह अपना प्रभाव नहीं जमा सके, जो सब प्रकारकी कठिनाईयोंका सामना करते हुए अविचल रहे, वही वीर, धीर और गम्भीर कहा जा सकता है। जो पशुबलके द्वारा अधिकार प्राप्त करके निर्बलोंको सताते हैं, दूसरोंकी माँ-बहिनोंकी इज्जत बर्बाद करते हैं, अल्पसंख्यकोंके साथ बुरा व्यवहार करते हैं, सम्प्रदायके अभिमानमें आकर भिन्न सम्प्रदायपर अत्याचार करते हैं, वे वीर नहीं कहे जा सकते। अतः यदि कोई यह समझे कि मुसलमानोंको मारनेवाला हिंदू वीर है या हिंदुओंको मारनेवाला मुसलमान वीर है, तो उसकी भूल है। यदि मारनेवाला ही वीर माना जाय, तब तो एक एटम बमको सबसे अधिक वीर मानना चाहिये, परंतु ये वीरताके लक्षण नहीं हैं।

जो वीर बनना पसंद करे, उसे चाहिये कि मातृशक्तिका अर्थात् स्त्री-जातिका खूब आदर करे। हर प्रकारसे उसकी रक्षा करे। अपने जीवनमें असावधानी न आने दे। जबतक प्राण रहे, तबतक अपने सत्यपर डटा रहे, विचलित न हो।

जो दूसरेके हृदय, मन और बुद्धिपर विजय प्राप्त कर ले, वही वास्तवमें वीर है। ऐसा वीर वही हो सकता है, जिसका विवेक और विश्वास ही जीवन बन गया है। जिसके जीवनमें पराजयका नाम-निशान भी नहीं रहा है।

जिसकी भावना, चरित्र, विश्वास, विवेक, संकल्प और पराक्रम सब-के-सब एक होकर जीवन बन जायँ, वही वीर कहलाने योग्य है। ऐसा वीर एक दुर्बल मनुष्य भी बन सकता है। वीरता के लिये शरीरके बलकी आवश्यकता नहीं है।

अर्जुन जब स्वर्गमें गया था, तब उर्वशीको क्या उत्तर दिया था? माता ! आप मुझे ही पुत्र समझ लो। मैं आपको अपने जैसा दूसरा पुत्र देनेमें समर्थ नहीं हूँ। अनेक प्रकारसे प्रलोभन देने और भय दिखानेपर भी अर्जुन ने उर्वशीका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। यह है वीरताका नमूना।

जो अपनेपर नेतृत्व कर सके, जो बुद्धिका, धर्मका और विश्वासका अपराधी न हो, अपनेसे दुःखियोंका दुःख सहन न कर सके, वह उदार मनुष्य ही सच्चा वीर है।

किसीके अन्याय और अत्याचारको सहन न करना ही वीरता है। इसके लिये मनुष्यको चाहिये कि वह उदारचरित्र बने, स्वाधीन हो जाय, संयमी हो तथा मन, बुद्धि और शरीरके अधीन न हो। प्रभुको संसारमें अपनेसे दूर न होने दे अर्थात् सबके साथ भगवान्‌के नाते एकता स्थापित करे।

जो पशु-बलके द्वारा निर्बलोंपर विजयी होते हैं, जो अपनी समझ और योग्यताको धनके बदले में या अधिकारके बदले में बेच सकते हैं एवं अपने समान सुखी और समृद्धि-सम्पन्न दूसरेको नहीं देख सकते, वे तो वीर क्या, मनुष्यतासे भी दूर हैं।

केवल हाथसे भी काम नहीं चलता और केवल दिमाग भी बिना हाथके काम नहीं कर सकता। कोई भी कार्य करनेके लिये हाथ और दिमाग दोनों चाहिये। हिटलर हाथ था अर्थात् उसमें

विवेकहीन वीरता थी। गांधीजी दिमाग थे अर्थात् उनमें बुद्धि-बल अधिक था।

दूषित चरित्रपर अच्छे चरित्रकी विजय हो अर्थात् प्राण चले जायँ, पर चरित्र सुरक्षित रहे, यह वीरता है। स्वार्थ और राग-द्वेष फैलाकर जीवनको खराब करना वीरता नहीं है।

मनुष्यको चाहिये कि अपना निर्माण करे, उसके द्वारा अपने राष्ट्र, समाज और संसारका निर्माण करे। अपनेपर अपना आधिपत्य करे, की हुई भूलको पुनः न दुहराये, संसारका हित और उसको प्रसन्न करे। अर्थात् उसके अधिकारकी रक्षा करे, किसीके अधिकारका अपहरण न करे। इस प्रकार जिसका जीवन दूसरोंकी आवश्यकता बन जाता है, जो दूसरोंके हृदयपर राज्य करता है, वह वीर है और वही हिंदू है।

समाजको आवश्यकता उसकी होती है, जिसमें स्वार्थ-भावना न हो। जिसमें श्रम, संयम, सदाचार, सेवा और त्याग हो।

(२७)

प्रश्न—ध्रुवा स्मृति किसे कहते हैं और वह कैसे प्राप्त हो ?

उत्तर—ध्रुवा स्मृतिसे आपका क्या अभिप्राय है ?

प्रश्न—भगवान्‌का स्मरण करना चाहते हैं, मन दूसरी ओर चला जाता है, भगवान्‌में अचल कैसे हो ?

उत्तर—जब यह बात समझमें आ जाय कि कुछ सत्यता, प्रियता और ज्ञान जहाँ कहीं दीखता है, वह सब उसीकी महानता है, जैसे प्रत्येक मिठाई में मीठापन चीनीका है, लड्डू, जलेबी, बरफी, रसगुल्ला और कलाकन्द आदि सभी चीनीको लेकर ही मीठे हैं, तो सब समय निरन्तर उसकी स्मृति रह सकती है। मनुष्यका सबसे अधिक प्रेम उससे होना चाहिये, जो उसके निकटतम है। यह नियम है कि जिसमें प्रेम होता है, उसकी स्मृति अपने-आप होती है। अतः साधकको देखना चाहिये कि मेरे अत्यन्त समीप कौन है ? क्योंकि सुन्दर

जीवनको विकसित करनेके लिये अपने निकटतमको देखना परम आवश्यक है। विचार करनेपर मालमू होगा कि हाथ-पैर-आँख आदि इन्द्रियोंको छोड़कर भी मनुष्य प्राणको रखना चाहता है अतः उनकी अपेक्षा भी प्राण अधिक निकट हैं। प्राणों से अत्यन्त निकट वह है जिसके लिये प्राणोंका भी त्याग किया जा सके। वह है अपना नित्य साथी परमेश्वर, जो जीवसे कभी अलग नहीं होता। वही जीवका अपना है। जो साधक दूरीसे बचकर अत्यन्त निकटतमका होकर रहता है, उसकी ओर सबका आकर्षण हो जाता है। अत्यन्त निकटतामें सब कुछ है, क्योंकि वही सबका केन्द्र है, जो अत्यन्त निकट है।

अतः साधकको चाहिये कि जो पर हैं अर्थात् दूर हैं, उनसे द्वेष न करे, परंतु विमुख हो जाय और अपनेको उनके समर्पण कर दे जो अपने निकटतम हैं। इस प्रकार विश्वासपूर्वक भक्तिभावकी स्थापना करे। इस भावका कभी नाश नहीं होता। जो वस्तु अभ्यासके द्वारा प्राप्त होती है, उसका कालान्तरमें नाश हो जाता है। विश्वासका कभी नाश नहीं होता। विश्वासपूर्वक अपने निकटतमका हो जानेपर प्रेम, बोध और योग अपने-आप मिल जाते हैं। उसके बाद ध्रुवा स्मृति हो जाती है।

जो निकटतम नहीं हैं, जिनका वियोग अनिवार्य है, उनका विश्वास ही नकली विश्वास है, उसे छोड़ देना चाहिये।

गलत ज्ञान जाननेसे अर्थात् विवेकसे मिटता है। जिसके न रहनेपर भी मैं रहता हूँ, वह वस्तु न तो मैं हूँ और न मेरी है, यह बात विचार करनेपर समझ में आ जाती है। अतः गलत ज्ञानको जानकर मिटाना चाहिये, सीखकर नहीं। सीखकर मिटायी हुई गलती सचमुच नहीं मिटती। उसका जीवनपर कोई असर नहीं पड़ता। जीते-जी मर जाना अर्थात् शरीरसे अपनेको अलग अनुभव कर लेना ही अमरत्व है और यही आनन्द है। इसके होनेपर अभाव और दुःख सदाके लिये मिट जाते हैं।

जब मनुष्य समुद्रकी ओर देखता है, तब उसे समुद्र-ही-समुद्र दीखता है और पीछेकी ओर देखनेसे स्थल-ही-स्थल नजर आता है,

उसी प्रकार संसारकी ओर देखनेसे संसार-ही-संसार दीखेगा और संसारकी ओर पीठकर लेने पर प्रभु-ही-प्रभु दिखलायी देंगे।

विवेकयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है। कर्मद्वारा प्राप्त होनेवाली वस्तुको प्राप्त करनेमें मनुष्य पराधीन है, परंतु विश्वास और विवेकद्वारा प्राप्त होनेवाले सर्वोत्कृष्ट जीवनको प्राप्त करनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। जगत्से विमुख होकर ईश्वरसे अनन्य प्रेम करना यही मानवोचित उत्कृष्ट जीवन है।

वे हमारे प्रियतम प्रभु असीम हैं, अनन्त हैं। असीमका वर्णन नहीं हो सकता, परंतु उनको प्राप्त किया जा सकता है। वे जीवको उसके साधनसे नहीं, किंतु स्वयं अपनी कृपा-शक्तिसे द्रवित होकर मिलते हैं।

जीवका स्वभाव तो बालक-जैसा है और प्रभुका स्वभाव माँके सदृश होता है। जब यह जीव बालककी भाँति प्रभुको पानेके लिये व्याकुल होकर रोने लग जाता है, तब प्रभुमें करुणा उत्पन्न हो जाती है और वे जीवको निहाल कर देते हैं। जगत् खिलौना है। जबतक जीव बालककी भाँति इस जगत्रूप खिलौने से खेलता रहता है, प्रभुके प्रेमरसकी इसको भूख नहीं लगती, उसके लिये यह व्याकुल नहीं होता, तबतक भगवान् भी तमाशा देखते रहते हैं, उसे मिलते नहीं। पर जब साधकको बालककी भाँति भूख लग जाती है अर्थात् जैसे भूख लगनेपर बालक माँका दूध पीनेके लिये व्याकुल हो जाता है, खिलौनेसे मोह छोड़कर, उसको फेंककर माँको पुकारने लग जाता है, वैसे ही जब प्रभुके प्रेमरसकी भूख लग जाती है और इस जगत्के खिलौनेसे विरक्त होकर साधक प्रभुके प्रेमरसके लिये व्याकुल होकर उनको पुकारने लगता है तब प्रभु भी करुणाभाव से व्याकुल हो उठते हैं। फिर विलम्ब नहीं कर सकते। तत्काल ही प्रेमी साधकको अपने प्रेमका रस प्रदान कर देते हैं।

कर्म सीमित होता है, इसलिये उसका फल भी कर्मके अनुरूप सीमित ही मिलता है, परंतु प्रभु अनन्त हैं, उनकी कृपा भी अनन्त है, अतः उनकी कृपा से जो कुछ मिलता है, वह भी अनन्त मिलता है।

प्रभुकी प्राप्तिका साधन भी प्रभुकी कृपासे ही मिलता है। ऐसा साधकको मानना चाहिये और अपने साधनमें सद्‌भाव रखना चाहिये। साधनमें अटल विश्वासपूर्वक सद्भाव होनेसे ही साध्यकी प्राप्ति होती है।

(२८)

प्रश्न—दीनता और अभिमान कैसे मिटे ?

उत्तर—जहाँ कामना है, वहाँ सत्यकी प्रतिष्ठा कठिन ही नहीं, असम्भव है। साधकको चाहिये कि यदि कोई उसकी मान्यता या सिद्धान्तका खण्डन करे तो घबराये नहीं। बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे सुनता रहे। यदि अपने सिद्धान्तकी निर्बलता मालूम हो तो उसे मिटा दे। यदि वास्तवमें निर्बलता है तो उसको ढककर रखनेसे कोई लाभ नहीं है।

जो साधक किसी प्रकारके अभावमें दीन नहीं होता, अर्थात् उसकी चाह नहीं करता और प्राप्त वस्तु या बलका अभिमान नहीं करता अर्थात् उसे अपना नहीं मानता, सब कुछ अपने प्रभुका मानता है, वह भक्त है। चाहरहित होनेसे ही दीनता मिटती है। जहाँ किसी प्रकारके सुखका उपभोग होता है, वही मनुष्य चाहकी पूर्तिके सुखमें आबद्ध हो जाता है और पुनः नयी चाह उत्पन्न हो जाती है, उसकी दीनताका अन्त नहीं होता।

जहाँ संकल्पकी उत्पत्ति और पूर्ति नहीं है, वहाँ दीनता और अभिमानके लिये कोई स्थान नहीं है।

जबतक मनुष्य शरीरसे सम्बन्ध रखता है, तबतक दीनता और अभिमान बने रहते हैं। जैसे दीवाल और छत बन जानेसे कमरा महाकाशसे अलग हो जाता है एवं महाकाश महान् होते हुए भी कमरेका आकाश किसीसे बड़ा और किसीसे छोटा हो जाता है, इसी प्रकार अपने नित्य-सम्बन्धी नित्य-आत्मस्वरूप प्रभुको भूलकर जबसे अपनेको अलग मानने लगा, तबसे इसमें दीनता और अभिमान आदि दोष आ गये। यह एकसे अपनेको बड़ा समझता है, इसलिये इसमें

अभिमान आता है, दूसरेसे छोटा मानता है, इसलिये दीनता आती है।

संकल्प पूरा होनेतक दीनता बनी रहती है, संकल्प पूरा होते ही अभिमान आ जाता है और नये संकल्पोंका जन्म हो जाता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि शरीरसे अलग होकर जीना ही नित्य आनन्दमय जीवन है। शरीरसे असंग हो जानेपर सुख-दुखकी जड़ कट जाती है। यदि कोई सोचे कि स्थूल शरीरका नाश कर देनेसे मैं शरीररहित हो जाऊँगा, तो उसकी भूल है, क्योंकि सूक्ष्म और कारण शरीरका नाश इस स्थूल शरीरके नाश से नहीं होता। इसलिये पुनः जन्म होकर नये स्थूल शरीरसे उसका सम्बन्ध जुड़ जाता है। इस प्रकार संकल्प और चाहका गोल चक्र बना रहता है। सम्बन्ध और चाह रहते हुए बिना शरीरका जीवन नहीं मिलता।

कोई भी मनुष्य शरीरके रहनेपर शरीररहित जीवनका अनुभव नहीं कर सकता। शरीरके रहते हुए जीवनकालमें ही शरीररहित जीवनका अनुभव साधनद्वारा किया जा सकता है। मरनेके बाद साधन नहीं हो सकता।

यदि कोई कहे कि जब शरीरके रहते हुए साधन होता है, तब उससे रहित होनेपर शरीरसे साधन कैसे होगा ? तो समझना चाहिये कि शरीरद्वारा होनेवाली क्रियाका विरोध नहीं है। क्रिया तो स्वाभाविक है। विरोध तो शरीरकी कामनाका और शरीरसे सम्बन्ध रखनेका है। वासनारहित होकर शरीर और संसारके हितकी भावनासे शरीरद्वारा सब काम किये जा सकते हैं। शरीर रहते हुए उसके द्वारा शरीर और संसारका हित करते रहना, चले जानेपर उसका कोई मोह नहीं, एवं चले जानेका भय भी नहीं, रहे तो भी अच्छा, न रहे तो भी अच्छा-इस भावनासे जो क्रिया होती है, वह शरीरमें अभिमान उत्पन्न करनेवाली नहीं होती। वह तो स्वाभाविक साधनरूप होती है। उससे पहले के कर्म-संस्कारोंका नाश होता है। इस प्रकारकी क्रियासे कर्ताका वस्तु, अवस्था और परिस्थितिसे सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये वह बन्धनकारक कर्म नहीं है।

यदि कोई कहे कि विश्वास भी तो मनमें ही होता है। जब मन ही नहीं रहेगा, तब विश्वास किसमें होगा ? इसका उत्तर यह है कि विश्वास मनमें नहीं होता। मन तो विश्वासको प्रकाशित करनेवाला एक यन्त्र है। विश्वास तो उसमें होता है, जिससे मन प्रकाशित होता है। जैसे बिजलीके बल्वमें प्रकाश नहीं है। उसके द्वारा तो प्रकाशकी उपलब्धि होती है, वह मात्र प्रकाशको प्रकट करनेवाला यन्त्र है। प्रकाशका केन्द्र तो पावरहाउस है, उसके साथ जिसका सम्बन्ध होता है, वही यन्त्र उसकी सत्तासे काम करने लगता है। इसी प्रकार सबका केन्द्र एकमात्र परमेश्वर है। इसी प्रकार बुद्धिका धर्म विवेक या बोध नहीं है, उसमें तो अविवेक भी रहता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि शरीर से सम्बन्ध छोड़ देने के बाद बिना शरीरका जीवन भी रहता है और उसमें क्रिया रहते हुए भी कर्म नहीं रहते, परंतु रस रहता है।

वर्तमान शरीरयुक्त जीवन जीवन नहीं है, जीवनकी साधन-सामग्री है। शरीर केवल साधनके लिये ही मिला है। साधन प्राप्त हो जानेपर शरीरसे सम्बन्ध टूट जाता है।

(२६)

प्रश्न—अभिमानका कारण क्या है ?

उत्तर—कुछ लोग धन कमानेवाले होते हैं और कुछ लोग धनका उपभोग करनेवाले होते हैं। जो कमाते हैं, वे प्रायः धनका उपभोग नहीं कर पाते, वे तो उसके कमाने, सुरक्षित रखने और उसकी व्यवस्था करने आदिमें ही लगे रहते हैं। पारिवारिक लोगोंकी ओरसे यह ख्याल बना रहता है कि यह अयोग्य है इत्यादि। धनका उपभोग करनेवाले व्यक्ति उसका उपभोग करते रहते हैं, इसलिये धन कमानेवालेको उतना धनका अभिमान नहीं होता, जितना धनका उपभोग करनेवालोंको होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य सुखका उपभोग करता है, उसे ही अभिमान होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उपभोग ही अभिमानका हेतु है, वस्तुओंका होना नहीं।

(३०)

प्रश्न—इच्छाओंका नाश कैसे हो ?

उत्तर—इच्छाएँ प्राप्त विवेक के आदर और ईश्वरकी कृपासे ही मिट सकती हैं। अतः विवेक का आदर करते हुए दृढ़ विश्वासपूर्वक अपने-आपको ईश्वरके समर्पण करके उन्हींपर निर्भर हो जाना चाहिये।

'होता है', 'है', एवं 'चाहिये'—इन तीनोंमें बड़ा अन्तर है। 'होता' वही है जो होनेवाला है। इसमें मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। वास्तवमें जो 'है' उसका कभी अभाव नहीं होता, ऐसा एक परमेश्वर ही है, दूसरा नहीं। 'चाहियेकी' व्याख्या लम्बी-चौड़ी है। भिन्न-भिन्न मनुष्योंको भिन्न-भिन्न वस्तु और परिस्थिति चाहिये। चाहकी कभी पूर्ति तो होती नहीं। अतः विचार और भगवान्‌की कृपासे चाहको मिटाया जा सकता है।

प्रश्न—संतोष कैसे हो ?

उत्तर—जैसे पिता अपनी संतानको योग्य बना देनेपर अपने कर्त्तव्यकी पूर्तिसे पितरोंसे उऋण होकर संतुष्ट हो जाता है, वैसे ही जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्यका पालन करके संसारके अधिकारको पूरा कर देता है, उससे उऋण हो जाता है, वह संतुष्ट हो जाता है।

प्रश्न—गुरु कैसे मिले ?

उत्तर—वास्तवमें गुरु वही है, जिससे साधकको अपने लक्ष्यका और कर्त्तव्यका ज्ञान हो। इसके लिये पहला गुरू अपना विवेक है। जो उसका आदर नहीं करता, उसको सच्चा गुरु मिलना मुश्किल है। अपने विवेकका आदर करके जब मनुष्य योग्य बन जाता है, तब उसके गुरु बननेको बहुत लोग तैयार हो जाते हैं। इसी प्रकार विख्यात गुरुके शिष्य बहुत होते हैं और विख्यात शिष्यके गुरु बननेको बहुत लोग तैयार हो जाते हैं, क्योंकि सुन्दर वस्तुसे सभी सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं। बुरी वस्तुसे कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ता।

आजकल न तो पहले-जैसे गुरु देखने में आते हैं और न वैसे शिष्य ही देखे जाते हैं। सबसे श्रेष्ठ गुरु तो वे होते हैं, जो शिष्यमें

अपनी शक्तिका संचार करते हैं। जैसे परमहंसजीने विवेकानन्दमें किया। एक घटना है कि एक साधक मुक्तिकी तीव्र इच्छासे गुरुकी खोजमें पहाड़ोंपर और जंगलोंमें फिर रहा था। एक जगह उसे एक महात्माके दर्शन हुए। वह वहाँ जाकर बैठ गया। महात्माने पूछा-'तुमको क्या चाहिये ?' उसने कहा-'मुक्ति।' महात्माने पूछा-'तुम्हें बन्धन ही क्या है? ' इस बातको सुनकर वह चौबीस घंटे बैठा रहा। उसे संतोष हो गया।

गुरुका काम यही है कि साधक जो साधन करता है, उसीको सजीव बना दे। अर्थात् उस साधनामें जो त्रुटि हो, उसे दूर करके उसे उज्ज्वल बना दे। उसमें कोई संदेह हो तो उसे मिटा दे। जीनेकी आशा, पानेकी आशा, करनेकी आशा और भोगने की आशा-इन आशाओंने मनुष्यको ईश्वरसे दूर कर दिया, वर्तमानमें अपने प्रभुसे मिलनेकी लालसा उत्पन्न नहीं होने दी। इस प्रकार ये संसारसे सच्चा वैराग्य नहीं होने देतीं।

सबसे अधिक बाधकतो जीनेकी आशा है, अन्य सब आशाएँ इसीके आश्रित रहती हैं। शरीर और संसारके स्वरूपका वास्तविक ज्ञान न होने के कारण जीनेकी आशा है।

यह जीनेकी आशा एकमात्र प्रमादसे ही सुरक्षित और जाग्रत रहती है। नहीं तो, विचार करनेपर यह कौन नहीं जानता कि मैं कालका चबेना हूँ। यद्यपि इसमें किसीको संदेह नहीं है, फिर भी जीनेकी आशा सभी करते हैं। इससे बढ़कर दूसरा प्रमाद क्या होगा?

सबसे बड़ी गलती मनुष्यकी यही है कि उसने अपनी जानकारीका अनादर करके उससे मुँह मोड़ रखा है। अपने प्रभुकी प्राप्ति मनुष्यको जब चाहे तभी-वर्तमान में ही हो सकती है, क्योंकि उससे इसकी देश, काल या जातिसे किसी प्रकारकी भी दूरी नहीं है। फिर भी अनन्तकालसे प्राणी उसे भविष्यकी आशापर छोड़ता आया है एवं जिनसे इसकी देशकालकी बहुत दूरी है तथा जो वस्तु इसकी जातिकी नहीं है, उसके लिये प्रयत्न करता है।

जिसको जीनेकी आशा नहीं रहती, वह कितना व्याकुल हो जाता है, यह तब मालूम होता है, जब हम किसी ऐसे कैदीको देखते हैं, जिसकी फाँसीका हुक्म हो चुका है। यद्यपि अपीलमें उसकी यह सजा छूट सकती है एवं अन्य किसी आकस्मिक घटनासे वह बच सकता है, इसकी गुंजायश है तो भी उस समय उसका ऐसा परिवर्तन हो जाता है, जिससे उसको कुछ भी अच्छा नहीं लगता। पर व्यक्तिके लिये तो फाँसीकी वह सजा निश्चित की हुई है, जिसकी कोई अवधि नहीं। जब चाहे जीवन समाप्त कर दिया जाय। अतः साधकको कभी जीनेकी आशा नहीं करनी चाहिये। जबतक शरीर है, तभीतक वर्तमानमें ही अपने प्रभुके लिये व्याकुल हो जाना चाहिये, जीवनपर भरोसा करना बड़ी भारी भूल है।

जबतक जीनेकी आशा रहती है, तबतक मनुष्य भविष्यमें कुछ प्रयत्नकी आशा, साधन करनेकी आशा और भोगनेकी आशा नहीं छोड़ सकता।

वास्तवमें वर्तमानकी साधना ही भविष्यको सफल बना सकती है। जो वर्तमानमें साधनपरायण हो जाता है, वह मौतसे नहीं डरता। प्रत्युत उसकी बाट देखता हुआ प्रसन्न रहता है। वह मरनेसे नहीं डरता, क्योंकि जिस कामके लिये उसे शरीर मिला था, वह पूरा कर लिया, फिर घबराहट कैसी ?

किंतु जिसने वर्तमानमें कुछ नहीं करके, भविष्यपर छोड़ दिया है, जिसने जानेकी तैयारी नहीं की, उसको मौतसे डरना पड़ता है। वह मौत आनेपर घबराता और पश्चाताप करता है, परंतु उस समय कुछ नहीं कर पाता।

मनुष्यकी सबसे बड़ी शक्तिहीनता, हृदयकी दुर्बलता यही है कि वह जो जानता है, उसे भी कर नहीं पाता।

साधकको चाहिये कि जीवनकालमें ही जीवनसे निराश हो जाय, ऐसा भाव उत्पन्न कर ले कि जीवन रहे तो भी अच्छा और न रहे तो भी अच्छा। अपने जीवनके प्रोग्रामको पूरा कर डाले। उसे

विचार करना चाहिये कि मुझे अब कौन-सा काम करना बाकी है, जिसके लिये जीना है और कितना जीना है ? क्या जीना अपने अधिकारमें है ? यदि नहीं, तो जो भी काम करना है, उसे जल्दी पूरा करके तैयार हो जाना चाहिये। फिर मृत्युका भय नहीं रहेगा।

साधकको देखना चाहिये कि मेरी जो आवश्यकता है, उसकी पूर्तिके साधनमें लगा हुआ हूँ या नहीं। उसे जानना चाहिये कि भोगोंपर मेरा अधिकार नहीं है। भोग-सुखका आरम्भ तो प्रिय है, परंतु उसका अन्त हमेशा अप्रिय होता है। यह जान लेनेपर भोगोंमें अरुचि हो जायगी।

साधकको करने योग्य काम पूरा कर देना चाहिये। कामको भविष्यके लिये जमा नहीं रखना चाहिये। प्रत्येक प्रवृत्तिके अन्त में योग हो जाना चाहिये। कामके अन्तमें रामकी प्राप्ति होनी चाहिये। तभी प्रवृत्ति और कामनाके अन्तकी सफलता है।

कामका स्वरूप है परिवर्तनशील और सीमित सुन्दरताकी आसक्ति, इसे जानना चाहिये।

रामका काम तो कामको प्रकाशित करना है, उसे मिटाना नहीं अर्थात् सत्यका काम असत्यको प्रकाशित करना है, नाश करना नहीं। किंतु रामकी लालसा कामको खाकर रामसे मिला देती है। अर्थात् सत्यकी लालसा असत्यसे असंग करके सत्यसे मिला देती है।

यदि कोई पूछे कि सत्यकी अभिलाषा होनेके बाद सत्य कितने दिनोंमें मिलता है तो इसका उत्तर यह है कि पूर्ण अभिलाषा होते ही मिल जाता है। इसमें विलम्बका कोई कारण नहीं है।

भोगोंकी इच्छाओंने रामकी लालसाको ढक रखा है। भोगोंका परिणाम क्या है ? पराधीनता, जड़ता और शक्तिहीनता। सभी जानते हैं कि पराधीनता, जड़ता और शक्तिहीनता दुःख है, फिर भी उसकी इच्छा करते हैं। कितने आश्चर्यकी बात है !

मनुष्य रोता हुआ जन्मता है, यदि रोते हुए ही मरा तो मिला

क्या ? मनुष्य-शरीर से क्या लाभ उठाया ? इस शरीरका महत्त्व तो तभी है जब हँसते हुए मृत्युका स्वागत करें।

अतः साधकको चाहिये कि वर्तमानमें ही अपने लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये कमर कस ले अर्थात् तत्पर हो जाय। कामका अन्त और रामकी प्राप्ति, यही उसका लक्ष्य है।

जो यह आशा करते हैं कि अगले साल फिर सत्संग करेंगे, उन्होंने सत्संगका महत्त्व नहीं समझा। सुननेके बाद यदि फिर भी सुननेकी आशा रही तो सुनना सार्थक सिद्ध नहीं हुआ।

जीनेकी आशाने मनुष्यके कर्त्तव्यको ढक रखा है यह मनुष्यको कर्त्तव्यपरायण नहीं होने देती। जीनेकी निराशा बड़ी महत्त्वपूर्ण है। जीनेसे निराश होते ही सच्चा वैराग्य हो जाता है, फिर बेड़ा पार है।

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ!
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतित-पावनी,
अहैतुकी कृपा से
मानवमात्र को
विवेक का आदर
तथा बल का सदुपयोग
करने की सामर्थ्य
प्रदान करें
एवम्
हे करुणासागर!
अपनी अपार करुणा से
शीघ्र ही राग द्वेष का
नाश करें।
सभी का जीवन
सेवा–त्याग–प्रेम से
परिपूर्ण हो जाय।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!! ॐ आनन्द!!!
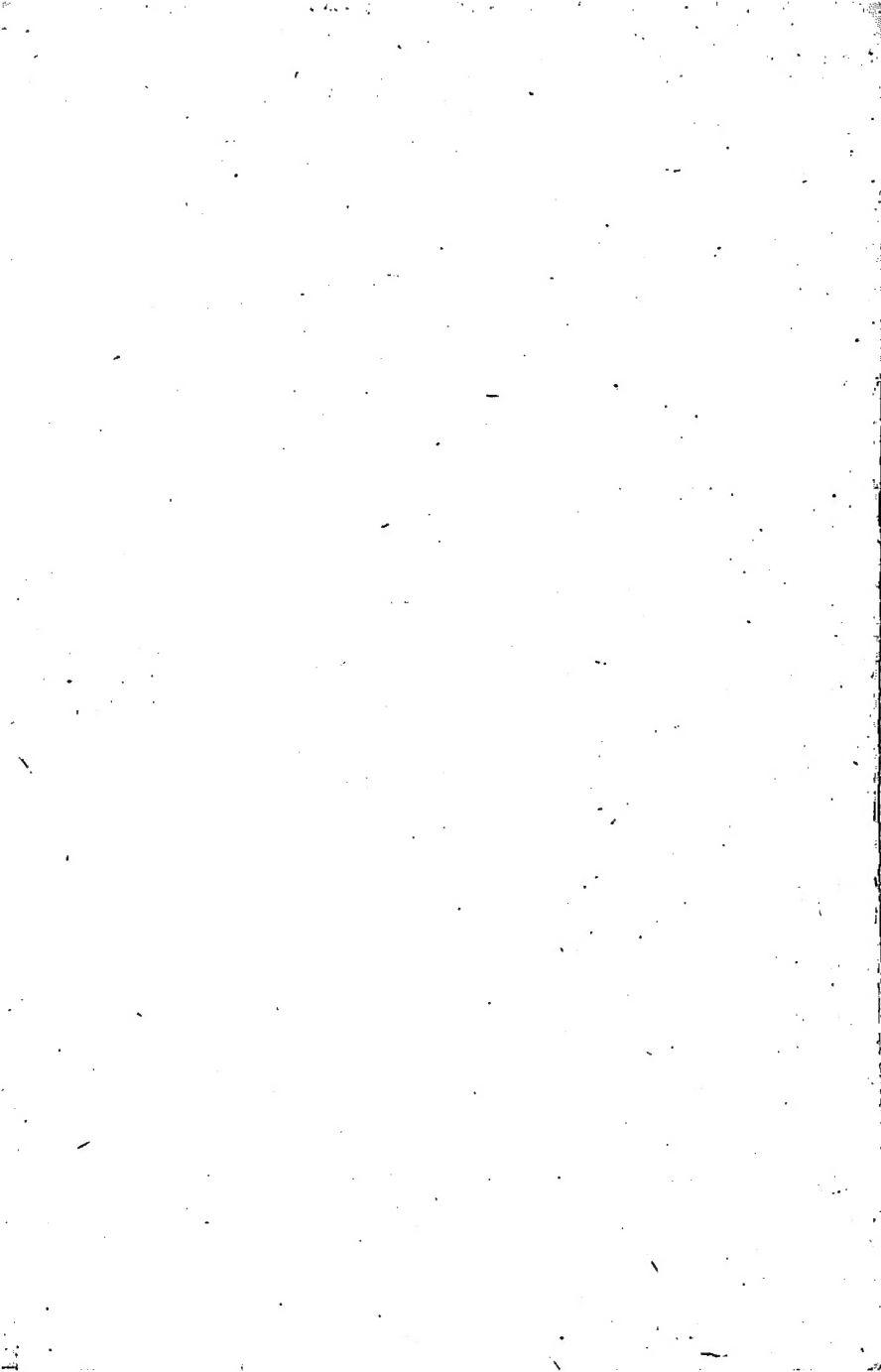
(प्रार्थना साधक के विकास का अचूक उपाय है)

"भोगों की इच्छाओं ने राम की लालसा को ढक रखा है। भोगों का परिणाम क्या है? पराधीनता, जड़ता और शक्तिहीनता। सभी जानते हैं कि पराधीनता, जड़ता और शक्तिहीनता दुःख है, फिर भी उसकी इच्छा करते हैं। कितने आश्चर्य की बात है।

मनुष्य रोता हुआ जन्मता है, यदि रोते हुए ही मरा तो मिला क्या? मनुष्य शरीर से क्या लाभ उठाया? इस शरीर का महत्व तो तभी है जब हँसते हुए मृत्यु का स्वागत करें।

अत: साधक को चाहिए कि वर्तमान में ही अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कमर कस ले अर्थात् तत्पर हो जाय। काम का अन्त और राम की प्राप्ति—यही उसका लक्ष्य है।

मूल्य
१६) रुपये

४००० प्रतियां
अप्रैल १९९७